भारतीय ज्ञान परंपरा में शिक्षा के समाजशास्त्रीय आधार

सम्पादक :
डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

भारतीय ज्ञान परम्परा में शिक्षा के समाजशास्त्रीय आधार

सम्पादक :

डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

Ph.D., D.Lit. (Sub.)

निदेशक, कॉम्पिटिशन प्लस ग्रुप ऑफ इन्स्टीट्यूशन,
अजमेर

छवि पब्लिकेशन्स

अजमेर-305001

प्रकाशक :
छवि पब्लिकेशन्स
अजमेर-305001
मो. 9660111549

संस्करण :
प्रथम 2024

ISBN : 978 - 81 - 89435 - 66 - 0

मूल्य - 300/-

रचना - भारतीय ज्ञान परम्परा में शिक्षा के समाजशास्त्रीय आधार

सम्पादक - डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

मुद्रक - श्रीनिवास प्रिन्टोग्राफिक्स, अजमेर

भारतीय ज्ञान परम्परा में उपवेदों का महत्व

डॉ. मृत्युंजय शर्मा
सहायक आचार्य (शिक्षा विभाग)
हुकुमचन्द नोबेल इंस्टीट्यूट ऑफ साईंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

भारतीय मनीषियों का यह सर्वमान्य मत रहा है कि वेद सृष्टि के आदि में ही ईश्वर द्वारा प्रकट किए गए थे। यही कारण है कि प्राचीन से प्राचीन चिन्तक भी ऋग्वेद को विश्व का सबसे प्राचीन ग्रन्थ स्वीकारते आए हैं।

वेद केवल धार्मिक ग्रन्थ मात्र नहीं हैं, बल्कि वे समस्त सत्य-विद्याओं के भण्डार हैं। वे ज्ञान, विज्ञान, आचार और मोक्ष—इन सबका मूल स्रोत हैं। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपने क्रांतिकारी वैचारिक नेतृत्व में इसे स्पष्ट रूप से उद्घोषित किया था कि—''वेद का पढ़ना-पढ़ाना और उसका प्रचार-प्रसार करना प्रत्येक मनुष्य का परम कर्तव्य है।''

आर्य समाज के नियमों और सिद्धान्तों में दयानन्द ने वेदों को मानव-जीवन की दिशा-निर्देशक धुरी बनाया। उनके अनुसार, वेदों के अध्ययन और आचरण के माध्यम से ही मनुष्य अपने अभीष्ट पुरुषार्थ—मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है। मानव मात्र के कल्याणार्थ रचित वेदों के महत्व को प्राचीन स्मृतिकार भी स्वीकारते हैं। मनुस्मृति में कहा गया है— **'सर्वज्ञानमयो हि सः'** अर्थात, वेद ही समस्त ज्ञान का भण्डार है।

मानव समाज के सर्वांगीण उत्थान और कल्याण के लिए जिस दर्शन की आवश्यकता है, उसका मूल स्रोत वेद हैं। सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय और उत्तरवर्ती साहित्य इस तथ्य को उद्घाटित करता है कि वेद न तो किसी मनुष्य-रचित ग्रन्थ हैं और न ही किसी विशेष काल के चिन्तन का परिणाम। वे तो अपौरुषेय हैं—अर्थात् ईश्वर प्रदत्त ज्ञान, जिन्हें प्राय: ब्रह्म की वाणी कहा गया है। इन्हीं के द्वारा प्रत्येक सृष्टि के प्रारम्भ में मानव को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का कल्याणकारी संदेश प्राप्त हुआ।

वेद केवल आध्यात्मिक ग्रन्थ ही नहीं, बल्कि इनमें इहलौकिक (व्यावहारिक और सामाजिक जीवन) तथा पारलौकिक (आध्यात्मिक और मोक्षमार्ग सम्बन्धी)—दोनों प्रकार के सिद्धान्तों का समन्वय मिलता है। यही कारण है कि भारतीय मनीषियों ने वेद को जीवन का अनिवार्य अंग मानते हुए इसे मानवता का सनातन मार्गदर्शक

स्वीकार किया। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपनी महत्वपूर्ण कृति **'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका'** में वेदोत्पत्ति के प्रसंग पर वेद-शब्द की व्युत्पत्ति का गहन विवेचन किया है। उन्होंने लिखा— ''विदन्ति = जानन्ति, विद्यन्ते = भवन्ति, विन्दन्ति/ विन्दते = लभन्ते, विन्दते = विचारयन्ति। सर्वे मनुष्याः सर्वाः सत्यविद्याः यैर्येषु वा तथा विद्वाँसश्च भवन्ति ते वेदाः।''

अर्थात्—वेद वे हैं जिनसे मनुष्य सत्य ज्ञान को जानता है, अस्तित्व में आता है, लाभ करता है और गहन विचार प्राप्त करता है। दयानन्द आगे बताते हैं कि 'वेद' शब्द की उत्पत्ति संस्कृत धातु 'विद्' से हुई है। यह धातु विभिन्न रूपों में प्रयोग होकर— विद् = ज्ञाने (ज्ञान प्राप्ति), विद् = सत्तायाम् (सत्ता या अस्तित्व), विद् = लृ लाभे (लाभ या उपार्जन),

विद् = विचारणे (विचार करना)— इन अर्थों को व्यक्त करती है। इस प्रकार 'वेद' शब्द का वास्तविक तात्पर्य है—वह ग्रन्थ जो सम्पूर्ण सत्य-विद्याओं का भण्डार है और जो मनुष्य को ज्ञान, अस्तित्व, लाभ तथा विचार—चारों स्तरों पर पूणज़्ता प्रदान करता है।

मनुस्मृति में स्पष्ट कहा गया है कि ''वेद अपौरुषेय हैं और वे ही मनुष्य के लिए सनातन चक्षु हैं''— **'वेदश्चक्षुः सनातनम्।'** अर्थात, जिस प्रकार नेत्र मनुष्य को दृश्य-जगत् का साक्षात्कार कराते हैं, उसी प्रकार वेद मनुष्य को सत्य, धर्म और जीवन के परम लक्ष्य का बोध कराते हैं। वेद ही ज्ञान के शाश्वत दीपक हैं।

महर्षि दयानन्द के विचार में वेदों की उत्पत्ति सृष्टि के आरम्भ में हुई। वे कहते हैं—ईश्वर ने सृष्टि के प्रारम्भ में वेदों की रचना उसी प्रकार की है, जैसे वह प्रत्येक सृष्टि के प्रारम्भ में करता है। ईश्वर स्वयं विज्ञानमय, अनन्त विद्यामय, विद्यादाता और प्रकाशस्वरूप है। उसकी यही दिव्य ज्ञान-विशेषताएँ वेदों में प्रतिबिम्बित हुई हैं। इसी कारण वेदों को ईश्वर की वाणी, ईश्वर का निःश्वास और दिव्य ज्ञान की अक्षय निधि कहा जाता है। वेदों की महत्ता को महाभारत ने भी अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादित किया है— **'नास्ति वेदात् परं शास्त्रम्'** अर्थात् वेदों से बढ़कर कोई शास्त्र नहीं।

डॉ. राधाकृष्णन ने अपनी पुस्तक **उपनिषद्** के अंग्रेजी अनुवाद की प्रस्तावना में लिखा है कि- The vedas were seen and heard by seers, when they were in state of inspiration and who inspired that is God!

भारतीय परम्परा के अनुसार चार वेद** माने गये हैं— 1. ऋग्वेद, 2. यजुर्वेद, 3. सामवेद, 4. अथर्ववेद। इन चारों वेदों के साथ ही चार उपवेद** भी स्वीकारे गये हैं, जिन्हें मोक्ष-प्राप्ति के रहस्यों और मानव-जीवन के व्यावहारिक पक्ष को समझाने वाला बताया गया है। उपवेद, वेदों के ज्ञान का विस्तार हैं और उनकी व्याख्या को स्पष्ट करते हैं। ये चार उपवेद हैं— आयुर्वेद - स्वास्थ्य और चिकित्सा का विज्ञान, धनुर्वेद -

शस्त्रविद्या और युद्धकला का शास्त्र, गान्धर्ववेद - संगीत, नृत्य और कलाओं का शास्त्र, अर्थवेद - शासन, राज्यव्यवस्था और अर्थनीति का शास्त्र।

सर्वदर्शनसिद्धान्तसंग्रह में इनका महत्व इस प्रकार प्रतिपादित है—

अङ्गोपाङ्गोपवेदाः स्युर्वेदस्यैवोपकारकाः।

धर्मार्थकाममोक्षाणामाश्रयाः स्युश्च षोडश।।

अर्थात् छः वेदांग, छः उपांग और चार उपवेद—ये सोलह शास्त्र वेदों के उपकारक हैं तथा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चार पुरुषार्थों के आधार भी हैं।

वात्स्यायन ने न्यायदर्शन का भाष्य करते हुए उपवेदों की प्रामाणिकता पर बल दिया है। वे लिखते हैं— 'य एवाप्तां वेदार्थानां द्रष्टारः प्रवक्तारश्च त एवायुर्वेदप्रभृतीनाम् इत्यायुर्वेदप्रामाण्यवद् वेदप्रामाण्यमनुमातव्यम्।'

अर्थात् —जिन प्रामाणिक ऋषि-मुनियों ने ईश्वर-प्रदत्त वेदमन्त्रों का साक्षात्कार किया और उनके सत्यार्थ को जाना तथा उसे लोक-हितार्थ प्रचारित किया, वही ऋषि आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और अर्थवेद जैसे उपवेदों के भी प्रवक्ता हैं। अतः जैसे आयुर्वेदादि प्रामाणिक हैं, उसी प्रकार वेद भी प्रामाणिक माने जाने चाहिए।

चारों ही उपवेद वेदमूलक हैं, जिनमें वेदों के विचारों का ही विस्तार और व्याख्याएँ मिलती हैं।

महर्षि दयानन्द ने उपवेदों के संदर्भ में लिखा है- 'तथायुर्वेदो वैद्यकशास्त्रम्, धनुर्वेदः शस्त्रास्त्रराजविद्या, गान्धर्ववेदो गानविद्या, अर्थवेदश्च शिल्पशास्त्रं, चत्वार उपवेदा अपि। तत्र चरकसुश्रुतनिघण्ट्वादय आयुर्वेदे ग्राह्याः। धनुर्वेदस्य ग्रन्थाः प्रायेण लुप्ताः सन्ति। परन्तु तस्य सर्वविद्याक्रियावयवैः सिद्धत्वादिदानीमपि साधयितुमर्हाः सन्ति। अङ्गिरः प्रभृतिभिर्निर्मिता धनुर्वेदग्रन्था बहव आसन्निति। गान्धर्ववेदश्च सामगानविद्यादिसिद्धः। अर्थवेदश्च विश्वकर्मत्वष्ट-(देवज्ञ)-मयकृतश्चतसृसंहिताख्यो ग्राह्यः।'

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपनी प्रसिद्ध कृति ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में ग्रन्थों के प्रमाण विषय का विवेचन करते हुए उपवेदों का उल्लेख किया है। उन्होंने स्पष्ट किया कि उपवेद चार हैं— 1. आयुर्वेद, 2. धनुर्वेद, 3. गान्धर्ववेद, 4. अर्थवेद (शिल्पशास्त्र)। इन उपवेदों का सम्बन्ध क्रमशः चारों वेदों से माना गया है। आयुर्वेद - ऋग्वेद से सम्बन्धित

धनुर्वेद -यजुर्वेद से सम्बन्धित, गान्धर्ववेद - सामवेद से सम्बन्धित, अर्थवेद/शिल्पशास्त्र - अथर्ववेद से सम्बन्धित।

यद्यपि विद्वानों में इस विषय पर मतभेद भी रहा है। अनेक आधुनिक इतिहासकारों का मत है कि— ऋग्वेद से आयुर्वेद, यजुर्वेद से धनुर्वेद, सामवेद से गान्धर्ववेद, और अथर्ववेद से अर्थवेद ये उपवेद सम्बद्ध हैं।

महर्षि दयानन्द ने भी प्राय: इसी व्यवस्था को स्वीकार किया। वे स्पष्ट कहते हैं कि ऋग्वेद का उपवेद आयुर्वेद है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि सुश्रुतसंहिता में एक भिन्न मत प्रस्तुत किया गया है। उसके अनुसार आयुर्वेद को अथर्ववेद का उपवेद माना गया है। इस परम्परा का समर्थन आधुनिक विद्वान डॉ. जयदत्त उप्रेती ने भी किया है।

'उपवेद' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है—

वेदान् उपगता इति उपवेदा: ।।

अर्थात् जो शास्त्र वेदों के अत्यन्त निकट हैं, जिनका आधार वेद ही हैं और जो वेदज्ञान का विस्तार करते हैं, वे उपवेद कहलाते हैं।

चरणव्यूह नामक ग्रन्थ में चारों उपवेदों का स्पष्ट उल्लेख है—

तत्र वेदानामुपवेदा भवन्ति। ऋग्वेदस्यायुर्वेद उपवेदो यजुर्वेदस्य धनुर्वेद उपवेद:। सामवेदस्य गान्धर्ववेद उपवेदोऽथर्ववेदस्यार्थशास्त्रं च इत्याह भगवान् व्यास: स्कन्दो वा।।

अर्थात् —वेदों के चार उपवेद माने गये हैं। ऋग्वेद का उपवेद आयुर्वेद, यजुर्वेद का धनुर्वेद, सामवेद का गान्धर्ववेद, और अथर्ववेद का अर्थशास्त्र या अर्थवेद है। इस मत का प्रतिपादन महषिज़ व्यास और महर्षि स्कन्द ने किया है।

अनेक विद्वानों ने भी इस व्यवस्था को स्वीकार करते हुए विशेष रूप से ऋग्वेद का उपवेद आयुर्वेद ही माना है। इसके अतिरिक्त, पाणिनि मुनि ने 'यथासंख्यमनुदेश: समानाम्' सूत्र के आधार पर उपवेदों का संबंध इस प्रकार माना है— ऋग्वेद-आयुर्वेद, यजुर्वेद-धनुर्वेद, सामवेद-गान्धर्ववेद, अथर्ववेद-तन्त्रवेद।

इससे यह स्पष्ट होता है कि उपवेदों के सम्बन्ध में परम्परा में कुछ भिन्न-भिन्न धारणाएँ विद्यमान रही हैं। किन्तु उनका मूल स्वरूप यह है कि वे वेदों के अनुगामी और व्याख्यात्मक शास्त्र हैं, जो मानव जीवन के व्यावहारिक, सांस्कृतिक और सामाजिक पक्षों को व्यवस्थित करते हैं।

महर्षि दयानन्द ने संस्कारविधि के वेदारम्भसंस्कार में उल्लिखित किया है- "ऋग्वेद का उपवेद आयुर्वेद, जिसको वैद्यकशास्त्र भी कहते हैं। सामवेद का उपवेद गान्धर्ववेद और अथर्ववेद का उपवेद अर्थवेद जिसको शिल्पशास्त्र भी कहते हैं।"

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपनी रचना 'संस्कारविधि' में वेदारम्भ-संस्कार के प्रसंग पर उपवेदों का उल्लेख करते हुए उनकी स्पष्ट व्याख्या की है। वे लिखते हैं— "ऋग्वेद का उपवेद आयुर्वेद है, जिसे वैद्यकशास्त्र भी कहा जाता है। सामवेद का उपवेद गान्धर्ववेद है। अथर्ववेद का उपवेद अर्थवेद है, जिसे शिल्पशास्त्र भी कहते हैं।"

अर्थात् महर्षि दयानन्द ने उपवेदों को वेदों से प्रत्यक्ष सम्बन्धित मानते हुए उनकी व्यावहारिक उपयोगिता को रेखांकित किया।

आयुर्वेद (वैद्यकशास्त्र) को ऋग्वेद का उपवेद बताते हुए उन्होंने इसे मानव-जीवन के स्वास्थ्य और चिकित्सा से सम्बद्ध माना। गान्धर्ववेद को सामवेद का उपवेद बताते हुए उन्होंने इसे संगीत, नृत्य और कला का आधार बताया। अर्थवेद (शिल्पशास्त्र) को अथर्ववेद का उपवेद स्वीकार कर उन्होंने इसे स्थापत्य, शिल्प और आर्थिक व्यवस्थाओं से जोड़ा। इस प्रकार महर्षि दयानन्द का मत उपवेदों को केवल सैद्धान्तिक ग्रन्थ न मानकर, उन्हें मानव-जीवन के व्यावहारिक, कलात्मक और सांस्कृतिक आयामों से सम्बद्ध करता है।

शुक्रनीति में उल्लिखित है कि-

यस्मिन्नृग्वेदोपवेदः स चायुर्वेदसंज्ञकः। (4.3.35)

भावार्थ - ऋग्वेद का उपवेद आयुर्वेद है।

यजुर्वेदोपवेदोऽयं धनुर्वेदस्तु येन सः।। (4.3.36)

भावार्थ- यजुर्वेद का उपवेद धनुर्वेद है।

सतालैर्गानविज्ञानं गान्धर्वो वेद एव सः।। (4.3.37)

अथर्वाणां चोपवेदस्तन्त्ररूप स एव हि।। (4.3.38)

अथर्ववेद का उपवेद तन्त्रवेद है।

एक-एक उपवेद के विषय में निम्न प्रकार उल्लिखित किया जा सकता है-

(1) आयुर्वेद :- आयुर्वेद भारतीय चिकित्सा-शास्त्र का मूल ग्रन्थ है और इसे वेदों का ही अंग माना गया है। इसके सम्बन्ध में परम्परा में दो प्रमुख मत प्रचलित हैं—

ऋग्वेद से सम्बन्ध - महर्षि दयानन्द सरस्वती ने आयुर्वेद को ऋग्वेद का उपवेद माना है। उनके अनुसार आयुर्वेद वेदज्ञान का ही व्यावहारिक विस्तार है, जो मानव-जीवन के स्वास्थ्य और चिकित्सा-विज्ञान को व्यवस्थित करता है।

अथर्ववेद से सम्बन्ध - दूसरी परम्परा में चरक और सुश्रुत जैसे आयुर्वेदाचार्य इसे अथर्ववेद से सम्बद्ध मानते हैं।

पुनर्वसु आत्रेय ने चरकसंहिता में आयुर्वेद को अथर्ववेद का उपवेद कहा है। इसी प्रकार, सुश्रुतसंहिता में भी इस मत का समर्थन मिलता है।

इस प्रकार आयुर्वेद का सम्बन्ध ऋग्वेद और अथर्ववेद—दोनों से बताया गया है। जहाँ महर्षि दयानन्द इसे ऋग्वेद का अंग मानते हैं, वहीं आयुर्वेदाचार्य इसे प्रायः अथर्ववेद का उपवेद स्वीकार करते हैं।

आयुर्वेद साहित्य का विवेचन :- ऋग्वेद को आयुर्वेद का उपवेद माना गया है। इसीलिए चारों वेदों में स्वास्थ्य, औषधि और चिकित्सा से सम्बन्धित विपुल प्रमाण उपलब्ध हैं। ऋग्वेद और अथर्ववेद में आयुर्वेद के तत्वों का सर्वाधिक विस्तार मिलता

है। ऋग्वेद में अश्विनीकुमारों (दिव्य चिकित्सक) की स्तुतियाँ, औषधियों की महिमा और रोग-निवारण के मंत्र मिलते हैं। अथर्ववेद तो भैषज्यवेद के रूप में भी प्रसिद्ध है, जिसमें औषधियों, उपचारों और यज्ञ-क्रियाओं से रोग-निवारण का उल्लेख है। ब्राह्मणग्रन्थ, जो वेदों की व्याख्या माने जाते हैं, उनमें भी आयुर्वेद विषयक विवेचन उपलब्ध है— ऐतरेय ब्राह्मण (5.22; 1.3; 3.40) में रोग और उसके निवारण का उल्लेख मिलता है। शतपथ ब्राह्मण (12.3.2; 1.1.4) में चिकित्सा और स्वास्थ्य-संरक्षण सम्बन्धी सूत्र हैं। गौपथ ब्राह्मण (3.1.19) में भी आयुर्वेद से सम्बन्धित संदर्भ मिलता है।

चरकसूत्र में आयुर्वेद के कई पर्याय दिए गए हैं— चेतना, अनुबन्ध, जीवितानुबन्ध, धारी। इनसे स्पष्ट होता है कि आयुर्वेद केवल शारीरिक चिकित्सा तक सीमित नहीं है, बल्कि वह जीवन (आयु) की निरन्तरता और चेतना का विज्ञान है।

सुश्रुत के अनुसार— आयु शरीर, इन्द्रिय, मन और आत्मा—इन चार का संयोग है। अर्थात आयु का सम्बन्ध केवल शरीर से नहीं है, बल्कि सम्पूर्ण जीवन से है। इसलिए केवल शरीर का ज्ञान आयुर्वेद नहीं है, बल्कि शरीर, इन्द्रिय, मन और आत्मा— चारों का ज्ञान ही पूर्ण आयुर्वेद है।

कश्यप ने आयुर्वेद की तुलना हाथ की पाँचवीं उंगली (अँगूठे) से की है— जैसे चार उँगलियाँ और एक अँगूठा मिलकर हाथ को पूर्ण करते हैं, वैसे ही चार वेदों के साथ पाँचवाँ आयुर्वेद उन्हें पूरक बनाता है और सबमें प्रधान है। कालिदास** ने भी शरीर की महत्ता को रेखांकित करते हुए कहा— 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।' अर्थात धर्म का मुख्य साधन शरीर है, और शरीर की रक्षा आयुर्वेद के बिना सम्भव नहीं।

वेदों में कई देवताओं को 'भिषक्' (चिकित्सक) कहा गया है— अश्विनीकुमार, रुद्र, अग्नि, वरुण, इन्द्र, अप: (जलदेवता), मरुतगण ये सभी देवता स्वास्थ्य, औषधि और जीवन-संरक्षण के प्रतीक रूप में उल्लिखित हैं।

आयुर्वेद की परम्परा में यह मान्यता है कि अश्विनीकुमारों ने प्रजापति से आयुर्वेद सीख, फिर अश्विनीकुमारों ने इन्द्र को शिक्षा दी, और इन्द्र से भरद्वाज, धन्वन्तरि तथा काश्यप ने आयुर्वेद के विभिन्न अंग सीखे। इस प्रकार आयुर्वेद का मूल स्रोत अश्विनौ ही माने जाते हैं। देवताओं में ब्रह्मा, प्रजापति और इन्द्र—इनमें से किसी ने भी प्रत्यक्ष रूप से चिकित्सा-कर्म नहीं किया। केवल अश्विनौ ही देवताओं के चिकित्सक हैं। इसी कारण वेदों में जहाँ भी चिकित्सा-संबंधी सूक्त मिलते हैं, वहाँ देवता के रूप में अश्विनीकुमारों का उल्लेख है।

अत्रिदेव विद्यालंकार के अनुसार— वेदों में अश्विनौ का संबंध केवल चिकित्सा-शास्त्र से है। देवताओं के संदर्भ में विवेचन करते समय— पहले इन्द्र, फिर अग्नि, उसके बाद सोम, और तत्पश्चात अश्विनौ की गणना होती है।

वेदों में अश्विनौ के शल्य-चिकित्सा (सर्जरी) और काय-चिकित्सा (जनरल मेडिसिन) दोनों का वर्णन मिलता है। आयुर्वेद के आठ अंगों (अष्टांग आयुर्वेद) में ये दोनों अंग ही प्रधान हैं। शेष अंग सामयिक (समर्थक) हैं और इन दोनों पर आश्रित हैं। अश्विनौ केवल देवता ही नहीं, बल्कि यह एक संज्ञा या उपाधि भी थी— जो शल्य-चिकित्सा और काय-चिकित्सा दोनों में दक्ष वैद्य को दी जाती थी। जैसे— घोड़ों की चिकित्सा करने वाले को 'शालिहोत्र' कहा जाता था, शल्य-चिकित्सक को 'धन्वन्तरि', और काय-चिकित्सक को 'चरक' अथवा 'अत्रि' की संज्ञा दी जाती थी।

ऋग्वेद में आयुर्वेदाचार्यों का अत्यन्त महत्वपूर्ण उल्लेख प्राप्त होता है। यद्यपि वेद अपौरुषेय हैं और उनमें इतिहास का प्रत्यक्ष उल्लेख नहीं पाया जाता, तथापि उनमें अनेक आचार्यों तथा उनके कार्यों का संकेत आध्यात्मिक एवं शिक्षाप्रद प्रसंगों में प्राप्त होता है। इसी आधार पर आयुर्वेद परम्परा में भरद्वाज, दिवोदास और अश्विनौ के नाम का विशेष उल्लेख किया जाता है।

भरद्वाज को काय-चिकित्सा का प्रवर्तक माना गया है। काय-चिकित्सा का तात्पर्य शारीरिक रोगों की सामान्य चिकित्सा से है। वहीं दिवोदास, जो काशी के राजा माने जाते हैं, शल्य-चिकित्सा के आचार्य के रूप में विख्यात हुए। शल्य-चिकित्सा का अर्थ शस्त्रकर्म अथवा शल्यक्रिया से है। ऋग्वेद (1.8.11) में इन दोनों आचार्यों का नाम अश्विनौ देवताओं के साथ उल्लिखित है, जिससे यह सिद्ध होता है कि उस युग में इनका योगदान समाज में मान्य और प्रसिद्ध था।

ऋग्वेद में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रसंग 'वस्पला' का आता है। वस्पला युद्ध में घायल होकर अपनी टाँग खो बैठी थी। तब अश्विनौ देवताओं से प्राथज़्ना की जाती है कि वे आकर उसकी कट चुकी टाँग के स्थान पर लोहे की कृत्रिम टाँग लगा दें, जो पक्षी के पर के समान हल्की और गतिशील हो। यह वर्णन आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से कृत्रिम अंग प्रत्यारोपण की अत्यन्त प्राचीन परम्परा का प्रमाण प्रस्तुत करता है।

इसी प्रकार च्यवन ऋषि का नाम भी आयुर्वेद परम्परा से जुड़ा हुआ है। वे वृद्धावस्था में दुर्बल हो गए थे, किन्तु औषधियों और चिकित्सा के प्रयोग से उन्होंने पुनः अपनी युवावस्था प्राप्त की। बाद की आयुर्वेदिक परम्परा में 'च्यवनप्राश' योग इसी घटना से सम्बद्ध माना जाता है।

वेदों में 'वैद्य' अर्थात् भिषक् के लक्षण भी बताए गए हैं। एक आदर्श वैद्य वही माना गया है जो सम्पूर्ण औषधियों का संग्रह करता हो, अपने शास्त्र का पूर्ण सांगोपांग ज्ञाता हो, चिकित्सा में युक्ति और योजना को जानता हो, रोगों एवं हानिकारक तत्वों का नाश करने में समर्थ हो तथा रोगों को जड़ से उखाड़ फेंकने की सामर्थ्य रखता हो।

वेदों में चिकित्सा के विविध आयामों का विवेचन मिलता है। इनमें केवल औषधीय उपचार ही नहीं, बल्कि जल, वायु और सूर्य जैसे प्राकृतिक साधनों द्वारा की जाने वाली चिकित्सा का भी उल्लेख है। इसे आधुनिक दृष्टि से देखें तो यह हाइड्रोथेरेपी (जल चिकित्सा), एयरोथेरेपी (वायु चिकित्सा) और हेलीओथेरेपी (सौर चिकित्सा) की अत्यन्त प्राचीन परम्परा का द्योतक है।

यजुर्वेद में आयुर्वेद के पर्याप्त प्रमाण प्राप्त होते हैं। विशेषकर यजुर्वेद (12.91) में औषधियों का महत्वपूर्ण वणज़्न मिलता है। यहाँ औषधियों को जीवनरक्षक और रोगनिवारक बताया गया है। चरक ने भी औषधियों की उत्पत्ति और उनकी उपयोगिता के संबंध में आख्यान प्रस्तुत किया है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि आयुर्वेद की औषधीय परम्परा का मूल स्रोत वेद ही हैं।

अथर्ववेद को प्रायः भेषजवेद भी कहा जाता है, क्योंकि इसमें चिकित्सा-विज्ञान का अत्यन्त विस्तृत विवेचन मिलता है। यहाँ दो प्रकार की चिकित्सोपयोगी वस्तुओं का वर्णन किया गया है—

(1) प्राकृतिक साधन - जल, वायु, सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, विद्युत, पृथ्वी और पर्वत आदि।

(2) वनस्पतियाँ एवं औषधियाँ - विभिन्न प्रकार की जड़ी-बूटियाँ और वनस्पतियाँ जिनका उपयोग रोग निवारण में किया जाता है।

स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक ने स्पष्ट किया है कि अथर्ववेद में इन प्राकृतिक शक्तियों और पदार्थों के गुणधर्मों को चिकित्सा के दृष्टिकोण से वर्णित किया गया है। उदाहरण स्वरूप, पृथ्वी और मिट्टी का प्रयोग, पर्वतीय खनिजों का उपयोग, जल और वर्षा का स्वास्थ्य-संरक्षण में महत्व, सूर्य और चन्द्रमा के प्रकाश का औषधीय प्रभाव, तथा वायु और अग्नि का उपचारात्मक स्वरूप यहाँ परिलक्षित होता है।

गोपथ ब्राह्मण में भी कहा गया है— **'येऽथर्वाणः तद्भेषजम्'** अर्थात् अथर्व वेद का सार ही भेषज (चिकित्सा) है। महर्षि चरक ने आयुर्वेद की परिभाषा देते हुए लिखा है— **'आयुर्वेदयति इति आयुर्वेदः'** अर्थात् जो आयु का बोध कराए और जीवन की रक्षा करे, वही आयुर्वेद है।

ऋषि दयानन्द सरस्वती ने सत्यार्थप्रकाश के तृतीय समुल्लास में आयुर्वेद को ऋग्वेद का उपवेद स्वीकार किया है, जबकि चरकसंहिता के पुनर्वसु आत्रेय ने इसे अथर्ववेद का उपवेद माना है। यद्यपि इस विषय में विद्वानों के मत भिन्न हैं, तथापि यह निर्विवाद है कि अथर्ववेद चिकित्सा-विज्ञान के दृष्टिकोण से सर्वाधिक महत्वपूर्ण है, और इसी कारण इसे भेषजवेद भी कहा जाता है।

आयुर्वेद की परम्परा में अश्विनीकुमारों का विशेष स्थान माना गया है। यही

कारण है कि उनके द्वारा आयुर्वेद के आठ विभागों का अध्यापन कराया गया, और इस आधार पर इसे अष्टाङ्ग आयुर्वेद कहा जाता है।

आयुर्वेद के ये आठ विभाग इस प्रकार माने गये हैं—

1. कायचिकित्सा – आन्तरिक रोगों की चिकित्सा।
2. शालाक्यतन्त्र – नेत्र, नासिका, कर्ण एवं गले आदि के रोगों का उपचार।
3. शल्यतन्त्र – शल्यक्रिया एवं शस्त्रकर्म सम्बन्धी चिकित्सा।
4. अगद या विषतन्त्र – विषैले पदार्थों एवं विषाक्त रोगों की चिकित्सा।
5. भूतविद्या – मानसिक एवं अदृश्य कारणों से उत्पन्न रोगों का उपचार।
6. कौमारभृत्य – बालरोग एवं स्त्रीरोग की चिकित्सा।
7. रसायनतन्त्र – आरोग्य, दीर्घायु एवं पुनर्यौवन प्रदान करने वाली चिकित्सा।
8. वाजीकरणतन्त्र – प्रजनन शक्ति एवं वीर्यवर्धन सम्बन्धी चिकित्सा।

वाग्भट्ट ने अपनी कृति अष्टाङ्गहृदय में आयुर्वेद के इन अंगों का व्यवस्थित रूप से वर्णन किया है। उन्होंने शारीरिक संरचना और मापन की सूक्ष्मताओं पर भी प्रकाश डाला, जैसे कि नेत्र की आकृति, उसके अंश, और उसकी तुलना विविध प्राकृतिक वस्तुओं से की।

आतुराङ्गुलमानेन तन्नेत्रं द्वादशाङ्गुलम्।
वृत्तं गोपुच्छवन्मूलमध्ययोः कृतकर्णिकम्।।
सिद्धार्थप्रवेशाग्रं श्लक्ष्णं हेमादिसम्भवम्।
कुन्दाश्वमारसुमनः पुष्पवृन्तोपमं स्मृतम्।।

आयुर्वेद का आधार वेद हैं। वेदों में चिकित्सा का व्यापक स्वरूप मिलता है, और विशेष रूप से अथर्ववेद में मूढ़गर्भ चिकित्सा (प्रसव की कठिनाईयों का उपचार) का अत्यन्त विस्तारपूर्वक विवेचन है। यह वह विषय है जिसे आधुनिक पाश्चात्य चिकित्सा भी कठिन और जटिल मानती है।

सुश्रुतसंहिता में भी आयुर्वेद के आठ अंगों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है— शल्य, शालाक्य, कायचिकित्सा, भूतविद्या, कौमारभृत्य, अगदतन्त्र, रसायनतन्त्र और वाजीकरणतन्त्र।

इसी आधार पर आयुर्वेद को पूर्ण चिकित्सा–विज्ञान कहा जाता है, जिसमें शारीरिक, मानसिक और सामाजिक स्वास्थ्य के सभी आयामों का समावेश है।

अथर्ववेद को भिषग्वेद अथवा भेषजवेद भी कहा गया है। अथर्वसंहिता के एक मन्त्र में इसे स्पष्ट रूप से चिकित्सा से सम्बन्धित वेद के रूप में अभिहित किया गया है—

यज्ञं ब्रूमो यजमामृचः सामानि भेषजा।

यजूंषि होत्रा ब्रूमस्ते नो मुंचन्त्वंहसः ।।

कृमियों से आशय उन सूक्ष्म जीवों से है जो रोग उत्पन्न करने की क्षमता रखते हैं। ये सूक्ष्म जीव सामान्यतः आँखों से दिखाई नहीं देते और अनेक बार रेंगने अथवा सर्प की भाँति गति करने वाले होते हैं। वैदिक वाङ्मय में इन कृमियों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। अथर्ववेद में इनको नष्ट करने की प्रार्थना की गई है, वहीं यजुर्वेद में भी इनसे रक्षा करने का निर्देश प्राप्त होता है। यजुर्वेद का एक मंत्र कहता है—

नमोस्तु सर्पेभ्यो ये के च पृथिवीमनु।

येऽअन्तरिक्षे ये दिवि तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः ।।

यह मंत्र संकेत करता है कि पृथ्वी, आकाश और द्युलोक—तीनों में विद्यमान कृमियों या सूक्ष्म जन्तुओं के प्रति सावधान रहते हुए उनके विनाश के उपाय करने चाहिए।

अथर्ववेद में रक्त और मांस को दूषित करने वाले जन्तुओं का उल्लेख किया गया है और उन्हें नष्ट करने के लिए औषधियों तथा मंत्रबल दोनों का प्रयोग करने की बात कही गई है। वहाँ यह स्पष्ट किया गया है कि औषधि के प्रयोग से अनेक सूक्ष्म जन्तु नष्ट हो जाते हैं और जो शेष रह जाते हैं, उन्हें मंत्र-शक्ति से समाप्त किया जाना चाहिए ताकि किसी भी प्रकार का रोगजनक तत्व शेष न रहे।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने आयुर्वेद को केवल शारीरिक स्वास्थ्य का साधन न मानकर, आत्मिक और सामाजिक उन्नति का आधार माना है। उनके अनुसार, शरीर की उन्नति आत्मिक और सामाजिक उन्नति से पहले अनिवार्य है। दयानन्दजी ने यजुर्वेद (12.89) का भाष्य करते हुए कहा है कि परमपिता परमेश्वर ने सभी प्राणियों के स्वास्थ्य की रक्षा हेतु औषधियों की रचना की है। उन्होंने औषधियों को 'माता के समान पोषण करने वाली' कहा।

वे स्पष्ट करते हैं कि जैसे गौ का स्वामी अपने झुंड की रक्षा करता है और चोर उसके भय से भाग जाता है, उसी प्रकार उत्तम औषधियाँ रोगों को नष्ट कर देती हैं और वे शरीर से दूर भाग जाते हैं।

दयानन्दजी ने अपने भाष्य में यह भी लिखा है कि—

शुद्ध स्थल, शुद्ध जल और शुद्ध वायु में उत्पन्न होने वाली औषधियाँ शीघ्र ही रोगों का निवारण करती हैं और इन्हें मनुष्य को अपने मित्र के समान सदा ग्रहण करना चाहिए। जब औषधि का प्रयोग उचित ढंग से और अनुकूल संयोजन के साथ किया जाता है, तो वह सभी रोगों से रक्षा करती है। उत्तम औषधियों को जल में डालकर, मन्थन करके और उसका सार निकालकर सेवन करने से जठराग्नि पुष्ट होती है, जिससे बल और आरोग्य की वृद्धि होती है।

महर्षि दयानन्द के वेदभाष्य में आयुर्वेद के विषय में विस्तार से विवेचन किया गया है। यद्यपि स्वरचित सभी ग्रंथों में महर्षि ने स्वस्थ रहने की पहली शर्त स्वीकार की है। उन्होंने वेदार्थ को समझने के लिए उपवेदों को स्वीकार किया, क्योंकि इन्हीं से संपूर्ण विद्याओं का ज्ञान मिलता है। जिस विधि का पालन करने से मनुष्य दीर्घायु को प्राप्त करें और रोगों के लक्षण, ओषधि तथा निदान का ज्ञान प्राप्त करें वह आयुर्वेद कहलाता है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपने वेदभाष्य में आयुर्वेद का गहन विवेचन किया है। उनके अनुसार, मनुष्य जीवन के सफल होने की पहली शर्त स्वस्थ शरीर है। यदि शरीर स्वस्थ नहीं है, तो न तो ज्ञान की प्राप्ति संभव है और न ही धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष की सिद्धि हो सकती है। इस कारण उन्होंने आयुवेज़्द को अत्यंत महत्वपूर्ण उपवेद के रूप में स्वीकार किया।

महर्षि ने स्पष्ट किया कि वेदार्थ को पूर्ण रूप से समझने के लिए उपवेदों का अध्ययन अनिवार्य है, क्योंकि इन्हीं उपवेदों के माध्यम से विभिन्न विद्याओं और कलाओं का व्यवस्थित ज्ञान मिलता है। चारों उपवेदों में से आयुर्वेद को उन्होंने विशेष स्थान दिया और इसे ऋग्वेद का उपवेद माना।

आयुर्वेद की परिभाषा करते हुए दयानन्दजी ने कहा कि — वह शास्त्र, जिसका पालन करने से मनुष्य दीर्घायु प्राप्त करता है और जिसमें रोगों के लक्षण, औषधियों का ज्ञान तथा निदान की व्यवस्था वर्णित है, वही आयुर्वेद है।

व्याकरणशास्त्र में भी आयुर्वेद के विषय में विवेचित करते हुए शरीरांगों के विषय में लिखा है कि-शिख[7], केश, शिर, ललाट, भ्रू, भृकुटि, अक्षि, कर्ण, मुख, आस्य, ककुद, नासिका, ओष्ठ, जिह्वा, जिह्वामूल, दन्त, मूधा, तालु, कण्ठ, हनु, ग्रीवा, हृदय, मन्या, उरस्, स्तन, हस्त, बाहु, पाणि, अंगुलि, नख, उदर, नाभि, बलि, कटि, गुदा, भग, सक्थि, जानु, उरु, पशु, अष्ठीवत्, जंघा, पाद, प्रपाद, पृष्ठ, कुक्षि, पार्श्व, नितम्ब, यकृत्।

अथर्ववेद में चिकित्सा का अत्यंत व्यापक स्वरूप मिलता है। इसमें कृमि, रोग और उनके निवारण के उपाय विस्तारपूर्वक वर्णित हैं। वेद के अनुसार कृमि तीन प्रकार के होते हैं—कुछ आँतों में उत्पन्न होते हैं, कुछ शिर में और कुछ पीठ में। इसके अतिरिक्त ऐसे भी कृमि बताए गए हैं जो व्रणों से अथवा अन्न-पान के द्वारा शरीर में प्रवेश कर जाते हैं। इन सबको नष्ट करने के लिए अथर्ववेद में मंत्र और औषधि का प्रयोग बताया गया है।

इस वेद में अनेक वनस्पतियों और औषधियों का उल्लेख है। उदाहरणार्थ—

* पिप्पली को वातरोग और उन्माद की श्रेष्ठ औषधि माना गया है।

* अपामार्ग या चिरचिटा क्षुधा और तृष्णा को शांत करने के लिए उपयोगी कहा गया है।
* पृश्निपर्णी उस रोग को दूर करने वाली है जो रक्त पीकर शरीर की वृद्धि को रोकता है और गर्भ को हानि पहुँचाता है।
* रोहिणी औषधि शस्त्र या पत्थर से लगे हुए व्रणों को भरने वाली कही गई है।
* पीपल, बरगद, अर्जुन, पिलखन, अघाट, कर्करी, अजशृंगी और तीक्ष्णशृंगी जैसे वृक्ष जल में उत्पन्न होने वाले विषजन्तुओं का नाश करने वाले बताए गए हैं।

अथर्ववेद में त्वचा और चर्म रोगों के लिए भी औषधियाँ वर्णित हैं। श्यामा नामक औषधि त्वचा का रंग समान करने वाली बताई गई है। कुष्ठ रोग के निवारण के लिए विशेष औषधियों का उल्लेख है। रामा, कृष्णा और असिक्नी नामक औषधियाँ श्वेतवर्ण (चर्मरोग) को मिटाने में सहायक कही गई हैं।

इसके अतिरिक्त रोहिणी औषधि को जीवनदायिनी माना गया है। पीलक रोग की औषधियों का वर्णन मिलता है। बालों की वृद्धि और मजबूती के लिए विशेष औषधियों की प्रार्थना की गई है। साथ ही पुरुष की क्लीबता दूर करने वाली औषधि का भी उल्लेख किया गया है।

प्राचीन काल से ही छोटे पौधों को औषधि और बड़े वृक्षों को वनस्पति कहा जाता रहा है। इन दोनों का संयुक्त प्रयोग 'औषधि–वनस्पति' शब्द से सम्पूर्ण वानस्पतिक जगत का बोध होता है। वैदिक साहित्य में वनस्पतियों का विस्तृत वर्गीकरण मिलता है, जिससे उनके स्वरूप और गुणधर्मों पर स्पष्ट प्रकाश पड़ता है।

ऋषि–मुनियों ने पत्र (पत्ते), पुष्प (फूल), काण्ड (तना) आदि अवयवों का, उनकी संरचनात्मक विशेषताओं का, उद्‌भव–स्थान का तथा उनके उपयोग और गुणों का सूक्ष्म निरीक्षण किया। इसी आधार पर उन्होंने वनस्पतियों को चार वर्गों में विभाजित किया— औद्‌भिद द्रव्य, वनस्पति, वानस्पत्य वीरुध् तथा औषधि अथर्ववेद में इन चारों विभागों का स्पष्ट वर्णन मिलता है।

वैदिक मानव ने अपने आसपास की प्रकृति से, विशेषकर पशु–पक्षियों के सहचर्य से, वनस्पतियों का ज्ञान प्राप्त किया। जब मानव सभ्यता का विकास हुआ और आवश्यकताएँ बढ़ीं, तब वनस्पतियों के उपयोग का क्षेत्र भी विस्तृत होता गया। इस प्रक्रिया में पशुओं ने मनुष्य का मार्गदर्शन किया। पशु–पक्षी अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जिन वनस्पतियों का उपयोग करते थे, उन्हें देखकर मानव ने भी उनका प्रयोग करना आरम्भ कर दिया। इस प्रकार पशु मानो मानव के लिए प्राकृतिक प्रयोगशाला सिद्ध हुए, जिनके अनुकरण से अनेक औषधियों और वनस्पतियों का ज्ञान प्राप्त हुआ।

ऋग्वेद और अथर्ववेद में 'औषधि' शब्द का अनेक बार प्रयोग हुआ है। सायण ने इस शब्द की निरुक्ति और व्याख्या विविध अर्थों में की है। उन्होंने 'औषधि' को फलपाकान्त लता, तृण (घास), अन्न, ग्रावा तथा देव आदि अर्थों में ग्रहण किया है।

भारतीय व्याकरणशास्त्र केवल भाषा-व्यवस्था और शब्दों के प्रयोग तक ही सीमित नहीं रहा, अपितु उसमें औषधियों और वनस्पतियों का भी उल्लेख मिलता है। यह तथ्य इस बात का प्रमाण है कि प्राचीन भारत में व्याकरण, चिकित्सा और जीवनोपयोगी विद्याओं में गहन अन्तसज़म्बन्ध स्थापित था। पाणिनि के सूत्रों में अनेक औषधियों के नाम आते हैं। जैसे—त्रिफला, ओदनपाकी, नीली, झण्डी, शङ्कुपर्णी, शालपर्णी, शङ्खपुष्पी, दासीफली, दर्भमूली और गोबाली। इसी प्रकार सम्फला और अपामार्ग (चिचिडा) का भी उल्लेख मिलता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि व्याकरणकार न केवल भाषा के सूक्ष्म नियमों के ज्ञाता थे, बल्कि समाज में प्रचलित औषधियों और उनके उपयोग से भी परिचित थे।

व्याकरण में विभिन्न ऋतुओं में प्रयोग होने वाले लेपन और औषधीय चूर्णों का भी वर्णन मिलता है। जैसे—हेमन्त ऋतु का उबटन (हैमनमुपलेपनम्), शैशिर ऋतु का उबटन (शैशिरमनुलेपनम्), शमी से बने भस्म, तिलमय और यवमय भस्म आदि। विदारि की जड़, कुस्तुम्बुरु (धनिया), त्वच (दालचीनी) जैसी औषधियों का भी पाणिनीय सूत्रों में उल्लेख है।

औषधियों के सेवन की विविध विधियों का भी व्याकरण-ग्रन्थों में संकेत मिलता है। रोगानुसार औषधि पाँच प्रकार से प्रयुक्त होती थी—

1. रस (स्वरस) - ताजे पौधे को निचोड़कर निकाला गया रस।
2. कल्क - औषधि को पीसकर बनाया गया लेप।
3. शृत या क्वाथ - औषधि को पानी में उबालकर तैयार किया गया काढ़ा।
4. शीत - औषधि को रातभर पानी में भिगोकर सुबह तक तैयार हुआ शीतल अर्क।
5. फाण्ट - औषधि को गरम पानी में डालकर तैयार किया गया गरम अर्क।

काषिकावृत्ति में वनस्पतियों के स्वरूप का स्पष्ट वर्गीकरण मिलता है— जिसमें केवल फल होते हैं, फूल नहीं, वे वनस्पति कहलाते हैं। जिनमें फल और फूल दोनों होते हैं, वे वृक्ष माने जाते हैं। जिन पौधों का फल पकने के बाद वे नष्ट हो जाते हैं, वे औषधि कहे जाते हैं। जो बेल फैलने वाली हो, वह लता कहलाती है। जिनमें छोटे-छोटे तने होते हैं, उन्हें गुल्म कहा गया है। जो लम्बी बेल और पत्तों से युक्त हों, वे वीरुध कहलाते हैं।

व्याकरणशास्त्र में केवल औषधियों के नाम ही नहीं, बल्कि दाँतों, नासिका

और केशों की चिकित्सा सम्बन्धी संकेत भी मिलते हैं। यह इस बात का प्रमाण है कि आयुवेज़्द का सम्बन्ध न केवल चिकित्सा-विज्ञान तक सीमित था, बल्कि उसका ज्ञान व्याकरण और अन्य उपवेदों में भी प्रतिपादित हुआ।

अथर्ववेद में भी इस विषय पर विशेष बल मिलता है। वहाँ कहा गया है—

यथा न पूर्वमपरो जहाति (12.2.25)

हे भगवन्! ऐसा हो कि छोटा मनुष्य बड़े से पहले मृत्यु को प्राप्त न हो। अर्थात् रोग अथवा अकाल-मृत्यु से बचाकर मनुष्य को दीर्घायु प्रदान करना ही आयुर्वेद और औषधियों का परम उद्देश्य है।

निरुक्तशास्त्र में 'औषधि' का निर्वचन अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यास्काचार्य ने कहा है—

ओषधयः, ओषद् धयन्तीति वा, ओषत्येना धयन्तीति वा, दोषं धयन्तीति वा। (निरुक्त 9.27)

अर्थात् औषधियाँ रोगों को पी जाती हैं और इस प्रकार रोगों का निवारण करती हैं। यह परिभाषा औषधियों की मूल प्रवृत्ति और उनके प्रयोजन को स्पष्ट करती है।

वैदिक वाङ्मय में यह उल्लेख मिलता है कि मनुष्यों की उत्पत्ति से भी पहले औषधियों की उत्पत्ति हुई। सूर्य, जो जगत् का पोषक और जीवनदाता है, औषधियों को पकाता है—स ओषधीः पचति विश्वरूपाः। इसका अर्थ है कि सूर्य के ताप और प्रकाश से औषधियाँ परिपक्व होकर प्रभावी बनती हैं।

आयुर्वेद केवल जड़ी-बूटियों तक ही सीमित नहीं है, इसमें अग्नि-चिकित्सा, सूर्य-चिकित्सा और वायु-चिकित्सा जैसे विविध उपचार-पद्धतियों का भी वर्णन किया गया है। यह दर्शाता है कि प्राचीन भारतीय चिकित्सा-विज्ञान ने पंचमहाभूतों के आधार पर चिकित्सा-पद्धति विकसित की थी।

चरक ने आयुर्वेद की परिभाषा इन शब्दों में दी है—

हिताहितं सुखं दुःखमायुस्तस्य हिताहितम्।
मानं च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेदः स उच्यते।।

अर्थात् आयुर्वेद वह शास्त्र है जिसमें जीवन के लिए हित और अहित, सुख और दुःख, तथा आयु का मान और परिमाण सबका विवेचन किया गया है।

अथर्ववेद के आठ नामों में एक नाम 'भैषज्यवेद' भी है। इससे यह सिद्ध होता है कि आयुर्वेद का उद्भव अत्यन्त प्राचीन है।

आयुर्वेद से सम्बन्धित अनेक शब्द—जैसे औषधयः, औषधानि, औषधि, भिषक्, भेषजानि, भिषज्यति आदि—विभिन्न ब्राह्मण ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं। इनसे आयुर्वेद की गहन परम्परा का संकेत मिलता है।

ब्राह्मणग्रन्थों में आयुर्वेद का उल्लेख— गोपथ ब्राह्मण (3.1.19) में औषधियों का वर्णन, शतपथ ब्राह्मण (1.1.4) में चिकित्सा सम्बन्धी विवरण, ऐतरेय ब्राह्मण में अश्विनीकुमारों को देवताओं का वैद्य बताया गया है। उसी ग्रन्थ में ज्ञानेन्द्रियों का विवेचन और औषधियों से रोग-निवारण का उल्लेख (3.40), तथा अंजन से नेत्ररोगों की निवृत्ति (1.3) का वर्णन है। शापादि से उन्माद, कुष्ठ आदि रोगों की उत्पत्ति, शुनःशेप के उपाख्यान में वरुण के कोप से जलोदर रोग का वर्णन भी मिलता है। सामविधान ब्राह्मण में साँपों से रक्षा (2.3.3), भूताक्रान्ति (2.2.2), तथा रोगाक्रन्ति (2.2.3) के उपचार का वर्णन है। तैत्तिरीय आरण्यक (4.36.1) में कृमियों का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है।

श्रौतसूत्र वे ग्रन्थ हैं जिनका प्रत्यक्ष संबंध श्रुति (वेद) से है और जिनमें मुख्य रूप से कर्मकाण्ड का विवरण मिलता है। इनमें अग्नियों का आधान, अग्निहोत्र, दर्श-पौर्णमास, चातुर्मास्यादि यज्ञों का वर्णन किया गया है। यद्यपि इनका प्रमुख उद्देश्य यज्ञ-विधान है, फिर भी इनमें रोगों, औषधियों और चिकित्सा-संकेतों का भी उल्लेख मिलता है।

आश्वलायन श्रौतसूत्र में यज्ञीय पशुओं के त्याज्य रोगों का उल्लेख है। आपस्तम्ब में कृमियों का वर्णन (15.19.5) किया गया है। आश्वलायन-गृह्यसूत्र में सूर्योदय और सूर्यास्त के समय सोना रोग का कारण बताया गया है (3.7.1.2)। यजामान सूत्र में त्याज्य रोगों का उल्लेख (1.23.20) और पशुरोगों की निवृत्ति (4.8.40) पाई जाती है। शाङ्खायन में शारीरिक पीड़ा के समय वेदमंत्र गाने का निषेध (4.7.36) और सब रोगों की निवृत्ति के लिए विधान (5.6.1-2) है। गोभिलीय में रोगनिवारक मंत्रों का उल्लेख (4.6.2) मिलता है। आपस्तम्ब गृह्यसूत्र में अर्धविभेदक (आधा सीसी दर्द) का कारण कृमियों को बताया गया है, बालक के अपस्मार रोग में कुक्कुर भूत का उल्लेख है, और बालक के क्षेत्रीय रोग का परिहार (6.15.4) वर्णित है। पारस्कर गृह्यसूत्र में शिरोपीड़ा से रोग-शान्ति (3.6) का उल्लेख है। हिरण्यकेशी में अग्नि से रोगनाश (1.2.28) और बालक के क्षेत्रीय रोग की शान्ति (2.3.10) का वर्णन है। खदिर गृह्यसूत्र में कृमियों का वर्णन (4.4.13), गायों के रोग की शान्ति हेतु उन्हें यज्ञीय धूमप्रदेश में चराने का विधान (4.3.13), तथा सर्पदंश की चिकित्सा (4.4.1) के उल्लेख मिलते हैं।

इन सूत्रों से यह स्पष्ट होता है कि यज्ञीय विधान और चिकित्सा-पद्धति** का आपस में गहरा संबंध था।

अश्विनीकुमारों को आयुर्वेद का विशेषज्ञ माना गया है। वेद और ब्राह्मण ग्रन्थों में उन्हें बार-बार देवताओं के वैद्य या चिकित्सक के रूप में स्मरण किया गया है। वे राजपुरुषों के राजवैद्य भी माने जाते थे। ब्राह्मण ग्रन्थ में कहा गया है— **अश्विनौ ह**

वा इदं भिषज्यन्तौ— अर्थात् अश्विनीकुमार ही चिकित्सक हैं।

श्रौतसूत्रों और ब्राह्मणग्रन्थों में व्याधियों का भी उल्लेख है। यह कहा गया है कि ऋतु परिवर्तन के समय रोगों का प्रकोप अधिक होता है, विशेषकर शरद ऋतु में। गण्डमाला, महोदर (जलोदर) जैसी व्याधियों का उल्लेख मिलता है। इन रोगों की निवृत्ति के लिए विशेष प्रकार के यज्ञ किए जाते थे जिन्हें 'चातुर्मास्य यज्ञ' कहा गया है। इन यज्ञों को ही भैषज्ययज्ञ भी कहा जाता था।

ब्राह्मणग्रन्थों में यह भी संकेत मिलता है कि सूर्य की किरणें और वर्षा का जल केवल जीवनदायी ही नहीं, बल्कि रोगनिवारक और बलदायक भी हैं। इन्हें 'तेज एवं ब्रह्मवर्चसदायक' कहा गया है। साथ ही, आतप-चिकित्सा (सूर्य-चिकित्सा) और जल-चिकित्सा के संकेत भी ब्राह्मण ग्रन्थों में मिलते हैं।

आर्य विद्वानों ने आयुर्वेद पर गहन अध्ययन और शोध किया है। प्राचीन और आधुनिक विद्वानों ने इसके इतिहास, शास्त्रीय आधार और व्युत्पत्ति पर महत्वपूर्ण योगदान दिया है। पं. भीमसेन शर्मा ने आयुर्वेद-शब्दार्णव पुस्तक लिखकर आयुर्वेद के शास्त्रीय शब्दावली और उनके अर्थों का विवेचन किया। गुरुकुल कांगड़ी के पं. अत्रिदेव विद्यालंकार ने चरक और सुश्रुत पर भाष्य प्रस्तुत किया। पं. जयदेव शर्मा विद्यालंकार ने चरकसंहिता का हिन्दी अनुवाद किया। पं. सूरमचन्द विद्यावेदवाचस्पति ने आयुर्वेद का इतिहास लिखा। पं. सत्यदेव वाशिष्ठ ने नाड़ी तत्व दर्शन पुस्तक में नाड़ी विज्ञान और आयुर्वेद के सम्बन्धों का विश्लेषण किया।

आयुर्वेद के आद्यगुरु ब्रह्मा ने इसे आठ विभागों में विभाजित किया है, जिन्हें प्राचीन ग्रंथों में विस्तृत रूप से वर्णित किया गया है। ये आठ अंग इस प्रकार हैं:

1. शल्य चिकित्सा – तृण, काष्ठ, पाषाण आदि वस्तुओं को शरीर से निकालने की विधि।
2. शालाक्य तन्त्र – कान, आँख, नाक, मुख आदि ऊपरी अंगों में उत्पन्न रोगों का उपचार।
3. काय चिकित्सा – शरीर के विभिन्न अंगों में होने वाले ज्वर, रक्त, पित्त, प्रमेह, कुष्ठ आदि रोगों का उपचार।
4. भूतविद्या – देव, असुर, गन्धर्व आदि के दुष्प्रभाव से उत्पन्न रोगों का निवारण।
5. कौमारभृत्य – शिशुओं की परिचर्या, स्तनपान और अन्य बाल्यव्याधियों का उपचार।
6. अगद तन्त्र – सर्पदंश, कीटदंश तथा विषयुक्त वस्तुओं से उत्पन्न रोगों का निवारण।

7. रसायन तन्त्र – आयु वृद्धि, मेधा, बल, रोग निवारण, दीर्घायु के उपाय।

8. वाजीकरण तन्त्र – अल्पवीर्य, क्षीणवीर्य, शुकवीर्य आदि के उपचार और प्रजनन संबंधी चिकित्सा।

महर्षि सुश्रुत ने आयुर्वेद की व्युत्पत्ति इस प्रकार बताई है:

आयुरस्मिन् विद्यते, अनेन वाऽऽयुर्विन्दतीति आयुर्वेदः ।।

अर्थात् जिसमें आयु–संबंधी ज्ञान है और जिससे जीवन से संबंधित उपाय जाने जाते हैं, उसे आयुर्वेद कहते हैं।

चरक ऋषि के अनुसार:

तदायुर्वेदयतीत्यायुर्वेदः ।।

अर्थात् वह ज्ञान जो आयु को जानने का साधन है, उसे आयुर्वेद कहा गया।

उपनिषदों में भी आयुर्वेद का उल्लेख मिलता है, जो इसकी प्राचीनता और महत्व को स्पष्ट करता है। प्रमुख उपनिषद और उनके श्लोक इस प्रकार हैं:

तैत्तिरीय 2.7, छान्दोग्य 5.11.1, बृहद. 5.3, श्वेता. 1.2–3, छान्दोग्य 5.1, बृहदारण्यक 6.2.1, छान्दोग्य 3.1 बृहदा. 1.1.1, 3.7.1। इन उपनिषदों में आयुर्वेद से संबंधित ज्ञान, जीवन वृद्धि, औषधियों, नाड़ी विज्ञान और रोगनिवारण के तत्वों का विवेचन किया गया है।

वैदिक साहित्य में वनस्पति का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। ऋग्वेद, अथर्ववेद, ब्राह्मण ग्रंथों, आरण्यकों और उपनिषदों में वनस्पतियों के स्वरूप, उनके अंगों तथा उनके औषधीय गुणों का सूक्ष्म वर्णन मिलता है। अथर्ववेद में वनस्पतियों के सभी अवयवों का सुन्दर शैली में उल्लेख हुआ है। इन अवयवों में— काण्ड (तना), शुङ्ग (फूल की डंडी या कोष्ठ), पर्व (संयुक्त भाग), पत्र (पत्ते), पुष्प (फूल), फल तथा मूल (जड़) का स्पष्ट उल्लेख मिलता है।

पयस्वतीरोषधयः मंत्र में औषधियों के क्षीर (रस/सत्त्व) का संकेत किया गया है, जिससे उनके पोषणकारी और जीवनदायी गुण प्रकट होते हैं।

बृहदारण्यक उपनिषद में मानव शरीर के अवयवों एवं धातुओं को वनस्पतियों और वृक्षों के अंगों के साथ जोड़ा गया है। इसका वर्णन इस प्रकार है—

पुरुष (मानव)	**वनस्पति**
लोम	पर्ण (पत्ते)
त्वक्	बहिरुत्पाटिका (छाल)
रक्त	निर्यास (रस)
मांस	शर्करा (गोंद/गुड़)

स्नायु	किनाट (रेशे)
अस्थि	आभ्यन्तरकाष्ठ (लकड़ी का कठोर भाग)
मज्जा	मज्जा (गूदा)

यह साम्य यह दर्शाता है कि मनुष्य और वृक्ष दोनों ही प्रकृति की एक ही सृष्टि प्रक्रिया के अंग हैं।

अथर्ववेद में औषधियों के माता-पिता और उनके मूल स्थान का उल्लेख किया गया है। औषधियों के पिता अन्तरिक्ष तथा माता पृथ्वी कही गई हैं। इनके मूल समुद्र में बताए गए हैं। इससे तीन प्रकार की औषधियों की अवधारणा स्पष्ट होती है— अन्तरिक्ष में उत्पन्न दिव्य औषधियाँ, पृथ्वी पर उत्पन्न वनस्पतियाँ, समुद्र में पाई जाने वाली वनस्पतियाँ।

पृथ्वी पर उत्पन्न औषधियों का भी दो वर्गों में उल्लेख है— पर्वतीय प्रदेश की औषधियाँ, समतल भूमि की औषधियाँ। अथर्ववेद में इन्हें क्रमशः पर्वतीय और बाह्य कहा गया है। त्रिककुद् पर्वत पर आंजन की उत्पत्ति का उल्लेख मिलता है। विष की उत्पत्ति भी पर्वत पर बताई गई है। वातबहुल (जांगल) प्रदेश की वनस्पतियों का भी उल्लेख मिलता है। जल में उत्पन्न होने वाली वनस्पतियों का निर्देश है, जो शैवाल* से आवृत्त रहती हैं।

ऋग्वेद के औषधिसूक्त में कहा गया है कि औषधियों के सैकड़ों उद्भव स्थान हैं, परंतु उनमें भूमि को सर्वोत्तम माना गया है।

आयुर्वेद भारतीय संस्कृति का उत्तम उपवेद माना जाता है। इसकी परंपरा ब्रह्मा से प्रारम्भ मानी गई है, क्योंकि ब्रह्मा स्वयंभू हैं। महर्षि सुश्रुत ने आयुर्वेद को शाश्वत बताया है।

उपनिषदों में आयुर्वेद से संबंधित रोगों, उनके कारणों और औषधियों द्वारा उपचार का विस्तृत वर्णन मिलता है। मुख्य उपनिषद जिनमें आयुर्वेद की चर्चा की गई है, वे हैं— ईश, केन, कठ, माण्डूक्य, मुण्डक, प्रश्न, ऐतरेय, तैत्तिरीय, बृहदारण्यक, छांदोग्य, श्वेताश्वतर।

इन उपनिषदों में— तैत्तिरीय उपनिषद (2.7) में शरीर की रचना और रोगमुक्ति का उल्लेख, छांदोग्य उपनिषद (4.1.8) में औषधि और जीवन के संबंध, बृहदारण्यक उपनिषद (5.17) में शल्य चिकित्सा का उल्लेख, (5.3) में हृदय संबंधी विवरण। श्वेताश्वतर उपनिषद (1.2-3) में आयु और स्वास्थ्य संबंधी विवेचन। छांदोग्य उपनिषद (3.1, 8.6.1), बृहदारण्यक (3.7.1, 6.2.1, 1.1.1) में जीवन, औषधि और शरीर की कार्यप्रणाली का उल्लेख।

ब्रह्मा

|

दक्ष–प्रजापति

|

अश्विनौ

|

इन्द्र

(सुश्रुत संहिता के अनुसार)	(चरक संहिता के अनुसार)	(काश्यप संहिता के अनुसार)
धन्वतरि (दिवोदास–काशिराज)	भरद्वाज	कश्यप–वशिष्ठ–अत्रि भृगु
सुश्रुत–औषधेनु–करवीर्य वैतरण–औरभ्र–पौष्कलावत गोपुररक्षित, भोज (शल्य तंत्र)	आत्रेय पुनर्वसु अग्निवेश–भेड़–जतुकर्ण– पराशर–क्षारपाणि–हारीत (काय–चिकित्सा)	इनके पुत्र और शिष्य (कौमारभृत्य)

भारतीय संस्कृति में आयुर्वेद केवल एक चिकित्सा–विज्ञान नहीं, बल्कि संपूर्ण जीवन–दर्शन माना गया है। इसकी परम्परा अत्यन्त प्राचीन और अखण्ड रही है।

आयुर्वेद परम्परा में अनेक महर्षि और आचार्य हुए जिन्होंने अपने–अपने ग्रंथों और शिक्षाओं द्वारा इस विद्या को समृद्ध किया। इनमें धन्वंतरि, भरद्वाज, आत्रेय, अग्निवेश, चरक, पतंजलि, सुश्रुत, कश्यप, जीवक, वात्स्य आदि प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं।

इन आचार्यों ने आयुर्वेद को विविध शाखाओं में व्यवस्थित किया और उपचार की वैज्ञानिक पद्धतियाँ प्रस्तुत कीं। इसी कारण यह विद्या निरन्तर शोध और प्रयोग के साथ आज तक जीवित बनी हुई है।

चरकसंहिता में आयुर्वेद की विस्तृत परंपरा का संकेत मिलता है। इसमें जिन महर्षियों का नाम आया है, उनमें— मौद्गल्य, कौशिक, भृगु, शौनक, पुलस्त्य, गौतम, अंगिरा, अत्रि, वशिष्ठ, अगस्त्य, मरीचि प्रमुख रूप से सम्मिलित हैं। इनका उल्लेख यह दर्शाता है कि आयुर्वेद किसी एक परम्परा या आचार्य की देन नहीं, बल्कि भारत की सामूहिक ऋषि–परम्परा की अनमोल धरोहर है।

आयुर्वेद की परम्परा केवल मानव चिकित्सा तक सीमित नहीं रही, बल्कि पशुओं और वृक्षों के स्वास्थ्य से भी संबंधित रही है। अश्वचिकित्सा पर हयघोष के पुत्र

शालिगोत्र का ग्रंथ प्राप्त होता है। हस्त्यायुर्वेद पालकाप्य ऋषि ने लिखा। वृक्षों और वनस्पतियों से संबंधित औषधियों की चिकित्सा का भी उल्लेख शास्त्रों में मिलता है।

वाल्मीकि रामायण में आयुर्वेद से संबंधित अनेक संकेत मिलते हैं। युद्धकाण्ड (102.117, 74-33, 74-73, 6.102) में वनस्पतियों और औषधियों का वर्णन है। रामायण में चिकित्सकों के लिए भिषक् शब्द का प्रयोग हुआ है। विभिन्न वनस्पतियों के औषधीय प्रयोग के उल्लेख भी प्राप्त होते हैं। सबसे प्रसिद्ध प्रसंग संजीवनी विद्या का है, जिसका प्रयोग लक्ष्मण को जीवित करने के लिए हनुमान ने हिमालय से औषधि लाकर किया था।

महाभारत को वासुदेवशरण अग्रवाल ने भारत की 'राष्ट्रीय ज्ञानसंहिता' कहा है। वास्तव में महाभारत में जीवन और समाज के सभी पक्षों का समावेश है।

सभापर्व (15.90-91) में नारद ने युधिष्ठिर से प्रश्न किया कि क्या वह वृद्धजनों के सत्संग से शरीर के रोगों का निवारण करते हैं। आदिपर्व (127.53-59, 50.34; 85.9), उद्योगपर्व (52.12), भीष्मपर्व (150.55-59) आदि में चिकित्सा के विभिन्न प्रसंग मिलते हैं। भीष्म जब शरशय्या पर गिरे, तो दुर्योधन अनेक वैद्य लाया। परंतु भीष्म ने कहा कि इस अवस्था में वैद्योपचार व्यर्थ है और उन्हें सम्मानपूर्वक विदा कर दिया गया। महाभारत में अश्वनव शब्द चिकित्सा से संबंधित मिलता है। शांतिपर्व (16.8-9) में रोगों को मानसिक और शारीरिक दो भागों में बाँटा गया है, और शारीरिक रोगों के कारणों में शीत, उष्ण और वायु का विवेचन किया गया है। महाभारत और रामायण दोनों में संजीवनी विद्या का विशेष उल्लेख है।

आयुर्वेद के आचार्यों का उल्लेख केवल चिकित्सा ग्रंथों में ही नहीं, बल्कि व्याकरण ग्रंथों में भी मिलता है। पाणिनि ने (अष्टाध्यायी 4.1.105) में पराशर, अग्निवेश और जतुकरण जैसे आयुर्वेदाचार्यों का उल्लेख किया है। उन्होंने निघण्टु(औषधियों की सूची और नाम) का भी उल्लेख किया है। चरक से संबंधित माण्व वेद का उल्लेख भी पाणिनि ने किया है।

बौद्ध साहित्य और उत्तरवर्ती काल के अनेक ग्रंथों में आयुर्वेद और उससे संबंधित चिकित्सा-विधियों का बड़ा विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है। सद्धर्मपुण्डरीक ग्रंथ में औषधियों और रोगों का उल्लेख 27 अध्यायों तक किया गया है। विनयपिटक और मिलिन्दप्रश्न में भी आयुर्वेद के अनेक प्रसंग मिलते हैं। विनयपिटक (6.2.1) में स्वेदकर्म का उल्लेख इस बात का संकेत है कि आयुर्वेद में स्वेदन-चिकित्सा की पद्धति प्रचलित थी। इसी ग्रंथ (5.2.2) में सर्पदंश-चिकित्सा, भगन्दर-चिकित्सा तथा रोगी की सेवा और परिचर्या के अनेक विवरण मिलते हैं, जिन्हें बुद्ध ने स्वयं अपने भिक्षुओं को निर्देश के रूप में दिया था।

बौद्ध साहित्य में जीवकचरित विशेष महत्वपूर्ण है। जीवक तक्षशिला में पले-बढ़े और वहाँ के दिशाप्रमुख वैद्य से शिक्षा प्राप्त करने वाले महान आयुर्वेदाचार्य थे। जीवकचरित में न केवल उनकी औषध-विद्या के उत्कर्ष का वर्णन मिलता है बल्कि आत्रेय जैसे प्राचीन आचार्यों का भी उल्लेख हुआ है। इसी परंपरा में नवनीतकम् नामक संस्कृत ग्रंथ का उल्लेख मिलता है। यह ग्रंथ विभिन्न आयुर्वेदिक पुस्तकों का संकलन है जिसमें विशेष रूप से लहसुन के औषधीय गुणों का विस्तारपूर्वक वर्णन है। साथ ही ब्राह्मी और शंखपुष्पी जैसी वनस्पतियों का भी इसमें उल्लेख है।

आयुर्वेद की परंपरा केवल बौद्ध ग्रंथों तक सीमित नहीं रही। स्मृतियों और पुराणों में भी चिकित्सा-विषयक विवरण मिलते हैं। अग्निपुराण में विविध प्रकार की चिकित्सा का विस्तृत वर्णन है। गरुड़पुराण में आरोग्यशालाओं, वैद्य के गुणों और आरोग्य-संरक्षण की विधियों का उल्लेख मिलता है। स्कन्दपुराण में भी औषधियों और चिकित्सा-पद्धतियों का विवेचन है। मनुस्मृति (1.49), नारदीयस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति (1.159) और बोधायनस्मृति (3.3, 4, 5) में भी चिकित्साविषयक संकेत उपलब्ध होते हैं।

मौर्यकाल में आयुर्वेद का विकास चरमोत्कर्ष पर पहुँचा। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में चिकित्सा से संबंधित अनेक उल्लेख मिलते हैं। विष-चिकित्सा के विशेषज्ञ वैद्य को उन्होंने जांगल वैद्य कहा है। अर्थशास्त्र (21.9-22) में हथियारों के घाव, महामारी की रोकथाम, रोग-निवारण, और सर्प-दंश की चिकित्सा (78.50) आदि के बारे में विशद विवेचन किया गया है।

यजुर्वेद का उपवेद धनुर्वेद है। इसमें अस्त्र-शस्त्र, सेना, युद्ध की व्यूह-रचना और रक्षा-विधियों का उल्लेख मिलता है। इसकी व्युत्पत्ति 'दिधन्ति धनादिकं प्राप्नोति येन तद् धनुः' से की गई है, अर्थात जिससे धन आदि प्राप्त होता है वही धनुः कहलाता है। विभिन्न ऋषि जैसे शिव, वशिष्ठ, जामदग्न्य (परशुराम), विश्वामित्र आदि धनुर्वेद की परंपरा के उपदेशक माने जाते हैं। विद्वानों की मान्यता है कि इसका प्रथम उपदेश ब्रह्मा ने पृथु को दिया था। बाद में बृहस्पति, शुक्राचार्य और भारद्वाज ने इसे संक्षिप्त कर अनेक संहिताओं का रूप दिया।

धनुर्वेद के विषय में विभिन्न परंपराएँ विकसित हुई— वसिष्ठ ने तंत्रप्रधान युद्धकला का वर्णन किया। परशुराम ने अस्त्र-विद्या द्वारा इसकी परंपरा को समृद्ध किया। शुक्राचार्य ने संजीवनी विद्या का विस्तार किया। भारद्वाज ने विद्युत-शास्त्र का प्रवचन दिया। वैशम्पायन ने विविध अस्त्र-शस्त्रों का विस्तार से उल्लेख किया।

यद्यपि मूल ग्रंथ वर्तमान में उपलब्ध नहीं हैं, परंतु अपराजितपृच्छा, नीति-प्रकाशिका, शुक्रनीति, अग्निपुराण, विष्णुपुराण, गर्गसंहिता, वसिष्ठ धनुर्वेद संहिता,

बृहत्संहिता और महर्षि दयानन्द कृत सत्यार्थप्रकाश जैसे ग्रंथों में धनुर्वेद का ऐतिहासिक ऐतिह्य और स्वरूप संरक्षित हुआ है। शुक्राचार्य ने धनुर्वेद का विषय युद्धोपकरण, व्यूहरचना निर्दिष्ट किया है।

भारतीय युद्धशास्त्र की परंपरा में अस्त्र–शस्त्रों का विस्तृत वर्गीकरण मिलता है। आयुधों को सबसे पहले चार मुख्य श्रेणियों में विभाजित किया गया है—

(1) अस्त्र – यह असु + क्षेपणे धातु से निर्मित माना गया है। अस्त्र वे होते हैं जिन्हें शत्रु पर फेंका जाता है, जैसे—बाण, भाला, गोली, बम इत्यादि। वैदिक वाङ्मय में इनके लिए अनेक पर्यायवाची शब्द प्रयुक्त हुए हैं।

दिद्युत शब्द अस्त्र की शक्ति और तेजस्विता का सूचक है। हेति का प्रयोग ब्रह्मद्विषों के नाश के लिए हुआ है।

सायक और वज्र का उल्लेख भी मिलता है। इसके अतिरिक्त इषु, शरव्या, ओषधि, पक्षिणी हेति, उलूक, शश आदि नाम भी अस्त्रों के रूप में वेद–संहिताओं में आते हैं।

(2) शस्त्र – ये वे आयुध हैं जिन्हें हाथ से चलाया जाता है। शस्त्रों का भी चार भागों में विभाजन मिलता है—

पाणिमुक्त –जो सीधे हाथ से फेंके जाते हैं, जैसे बल्लम, भाला, पाषाण।

यन्त्रमुक्त –जो यंत्र या उपकरण की सहायता से छोड़े जाते हैं, जैसे इषु (तीर), गोली, बम आदि।

मुक्तामुक्त – जिन्हें हाथ से भी और यंत्र से भी प्रयोग किया जा सके, जैसे बरछी, गदा, छुरिका।

अमुक्त – जो फेंके नहीं जाते, केवल हाथ में लेकर प्रयोग होते हैं, जैसे तलवार।

'वज्र' शब्द का प्रयोग विशेष महत्व रखता है। यह केवल इन्द्र के अस्त्र का नाम ही नहीं था, बल्कि सभी प्रभावशाली, आघातकारी शस्त्रों के लिए प्रयुक्त होता था। 'शक्ति–अस्त्र' ऐसा आयुध माना गया जो पाणिमुक्त और यन्त्रमुक्त दोनों रूपों में प्रयुक्त किया जा सकता है।

धनुर्वेद केवल अस्त्र–शस्त्र की चर्चा तक सीमित नहीं रहा, बल्कि उसमें युद्ध की व्यूहरचना का भी उल्लेख मिलता है। महाभारत और विष्णुधर्मोत्तर ग्रंथ इस परंपरा के प्रमुख स्रोत हैं।

महाभारतकार ने बृहस्पति के वचनों को उद्धृत करते हुए कहा है— यदि शत्रु की सेना संख्या में कम हो तो अपनी सेना को संगठित और संकुचित रखना चाहिए। यदि शत्रु–सेना अधिक हो तो अपनी सेना को विस्तृत करके लड़ा जाना चाहिए।

अर्जुन ने भीम को अग्रभाग में रखकर अल्पसंख्या वाली सेना को वज्र–व्यूह

के रूप में संगठित किया था।

विष्णुधर्मोत्तर पुराण में व्यूह के पाँच प्रमुख अंग बताए गए हैं— (1) **उरस्य** – सेना का मध्य भाग। (2–3) **पक्ष** – मध्य के दोनों ओर दायां और बायां भाग। (4–5) **कक्ष (बन्धपक्ष)** – पक्षों के पीछे दाएं और बाएं।

पक्ष **पक्ष**

उरस्य

कक्ष **कक्ष**

धनुर्वेद में उरस्य (सेना का मध्यभाग) को मुख्य आक्रमणकारी विभाग माना गया है, जिसके संरक्षण हेतु अन्य भागों की व्यवस्था होती थी। उरस्य में सदैव शूरवीरों को रखना आवश्यक था, ताकि वे आक्रमण या रक्षा की स्थिति में विचलित न हों और सेना का उत्साह बना रहे। यही कारण है कि अर्जुन ने भीम जैसे पराक्रमी योद्धा को अग्रभाग में नियुक्त किया।

हालाँकि यजुर्वेद में अस्त्र–शस्त्र विज्ञान का उल्लेख मिलता है, परन्तु धनुर्वेद को उसका विशिष्ट उपवेद कहा गया। महर्षि दयानन्द ने इसे मानव–कल्याणकारी शास्त्र माना, जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों पुरुषार्थों की सिद्धि कराने वाला है। उनके अनुसार सेनाध्यक्षों का कर्तव्य केवल युद्ध में विजय प्राप्त करना ही नहीं है, बल्कि सेना को संगठित कर चक्रव्यूह, श्येनव्यूह, शकटव्यूह आदि की व्यूह–रचना से शत्रुओं को परास्त करना और तत्पश्चात् न्यायपूर्ण ढंग से प्रजापालन करना भी आवश्यक है।

नीतिप्रकाशिका में धनुर्वेद को यजुर्वेद का अंग माना गया है। अथर्ववेद और ऋग्वेद में भी इस संबंध में सामग्री मिलती है। शुक्रनीतिकार ने धनुर्वेद को युद्ध, शस्त्र–अस्त्र संचालन और व्यूह–रचना में पारंगत करने वाला शास्त्र बताया।

स्वामी दयानन्द ने धनुर्वेद का क्षेत्र और व्यापक कर दिया। उनके अनुसार यह केवल युद्धकला नहीं, बल्कि राजपुरुष और प्रजा दोनों से संबंधित कर्तव्यों का शास्त्र है। सेनाध्यक्षों को शस्त्रास्त्र विद्या और व्यूहों का अभ्यास कराना चाहिए, जिसे आज की भाषा में 'कवायद' कहा जा सकता है। साथ ही प्रजापालन, प्रजा की वृद्धि, दुष्टों का दंड और श्रेष्ठों का संरक्षण करना भी इसका अंग है।

आचार्य कौटिल्य ने अस्त्रों को स्थितयन्त्र और चलयन्त्र दो भागों में विभाजित किया। उन्होंने 16 प्रकार के चलयन्त्र बताए, जिनमें शतघ्नी भी प्रमुख थी। पं. भगवद्दत्त ने अस्त्रों को साधारण और दिव्य—दो प्रकार का माना, और रामायण में वर्णित परमास्त्रों का उल्लेख भी किया।

ऋग्वेद और अन्य संहिताओं में धनुष का विशेष महत्व बताया गया है। वेदों में मंत्रों के माध्यम से कहा गया है कि–

धन्वना गा धन्वनाजिं जयेम धन्वाना तीव्राः समदो जयेम।

धनुः शत्रोरपकारं कृणोति धन्वना सर्वाः प्रदिशो जयेम।।

धनुष के बल पर धन, भूमि, युद्ध और शत्रु पर विजय प्राप्त की जा सकती है। धनुष को दिग्विजय और शत्रु–नाश का साधन माना गया।

वेदों और वैदिक साहित्य में युद्धोपकरणों का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। उनमें धनुष का उल्लेख अनेक नामों से मिलता है। कहीं इसे धनुष कहा गया है, तो कहीं धन्वन् और कहीं पिनाक के रूप में भी इसका उल्लेख मिलता है। जो व्यक्ति धनुष धारण करता है उसे धानुष्क, धन्वायिन्, धन्वाविन्, इषुमत् और सन्वास जैसे शब्दों से अभिहित किया गया है। यह विविध नाम न केवल शस्त्र की महत्ता को सूचित करते हैं, बल्कि उस संस्कृति की गहराई को भी प्रकट करते हैं, जिसमें शस्त्र और शौर्य दोनों का समान आदर था।

निरुक्तकार आचार्य यास्क ने धनुष शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है कि **धनुर्धन्वतेर्गतिकर्मणः वधकर्मणो वा, धन्वन्त्यस्मादिषवः।** यह शब्द 'धवि' धातु से उत्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ है गति करना अथवा वध करना। धनुष का स्वभाव ही यह है कि इससे निकला हुआ बाण लक्ष्य की ओर गति करता है और शत्रु का संहार करता है। इसी कारण इसे धनुष कहा गया। यहाँ गति और वध दोनों का ही भाव एक साथ जुड़ा हुआ है।

धनुष की डोरी, जिसे प्रत्यंचा कहते हैं, वैदिक ग्रंथों में 'ज्या' नाम से अभिहित की गई है।

निरुक्तकार ने ज्या के विषय में कहा है– **ज्या जयतेर्वा जिनातेर्वा प्रजावयतीषूनिति वा।** (9.18)

इस 'ज्या' शब्द की भी निरुक्त में बड़ी सूक्ष्म व्याख्या मिलती है। एक अर्थ में 'ज्या' को 'जि' धातु से निकला हुआ माना गया है, जिसका अर्थ है विजय प्राप्त करना। इस दृष्टि से धनुष की डोरी को ज्या कहा गया, क्योंकि वही योद्धा को विजय दिलाने का साधन बनती है।

दूसरे अर्थ में 'ज्या' 'ज्या वयोहानौ' धातु से व्युत्पन्न कही गई है, जिसका आशय है आयु का हरण करना। धनुष की प्रत्यंचा जब बाण को आगे बढ़ाती है, तो वह शत्रु के प्राण हर लेती है, अतः उसे ज्या कहा जाता है।

तीसरे अर्थ में 'ज्या' को गति कराने वाली शक्ति माना गया है। 'जूङ्गतौ' धातु से 'ज्या' का यह रूप सिद्ध होता है। इस अर्थ में यह बाण को तीव्र गति प्रदान करती है

और उसे लक्ष्य तक पहुँचाती है।

इस प्रकार धनुष और उसकी प्रत्यंचा का वर्णन केवल भौतिक शस्त्र के रूप में नहीं, बल्कि एक दार्शनिक दृष्टि से भी किया गया है। धनुष को शौर्य, शक्ति और विजय का प्रतीक माना गया, वहीं उसकी डोरी को उस अदृश्य शक्ति के रूप में समझा गया जो बाण को लक्ष्य की ओर गति देती है।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में युद्धोपकरणों के निर्माण और उनके प्रकारों का सूक्ष्म विवेचन मिलता है। विशेषकर धनुष के विषय में उन्होंने उल्लेख किया है कि यह चार प्रकार के पदार्थों से बनाया जाता था—

(1) ताल – यह ताड़ या कोर्द जैसे वृक्ष की लकड़ी से निर्मित धनुष होता था। इसकी विशेषता दृढ़ता और लचक दोनों का संतुलन थी।

(2) चाप – उत्तम जाति के बांस से बना धनुष, जो हल्का और प्रहार में तीव्र होता था।

(3) दारु – अच्छी और मजबूत लकड़ी से बना धनुष, जो अधिक स्थायित्व वाला होता था।

(4) शार्ङ्ग – यह सींग से निर्मित धनुष होता था, जो देखने में छोटा लेकिन अत्यन्त कठोर और प्रभावशाली होता था।

इन प्रकारों के अनुसार और उनकी आकृति एवं उपयोगिता के आधार पर धनुष को कार्मुक, कोदण्ड और द्रूणा जैसे नाम दिए जाते थे।

इसी प्रकार बाण (इषु) का भी वैदिक और प्राचीन ग्रंथों में विस्तृत उल्लेख मिलता है। निरुक्त के अनुसार 'इषु' शब्द 'इष्' धातु से बना है, जिसका अर्थ है गति करना अथवा वध करना। अर्थात् बाण का स्वभाव ही है कि वह लक्ष्य की ओर तीव्र गति से बढ़ता है और शत्रु का संहार करता है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने भी 'इषु' शब्द का यही अर्थ किया है— **'ईषति, गच्छति, हिनस्ति, वा शत्रूनिति इषुः, बाणो, वीरो वा।'** अर्थात् जो चलता है, बढ़ता है और शत्रु का नाश करता है वही बाण है।

बाण के पाँच प्रमुख भेद माने गए हैं—

(1) वेणु – बांस से निर्मित बाण, (2) शर – नरसल से बना हुआ बाण, (3) शलाका – मजबूत लकड़ी से बना बाण, (4) दण्डासन – जिसमें आधा भाग लोहा और आधा भाग लकड़ी का होता था, (5) नाराच – पूर्ण रूप से लोहे से बना हुआ बाण, जो अत्यन्त शक्तिशाली और भेदक होता था।

इनके अतिरिक्त उत्तम प्रकार के सरकण्डों से भी बाण बनाए जाते थे। इन बाणों की अग्रभाग (नोक) विविध पदार्थों से तैयार की जाती थी, जैसे— लोहा, हड्डी,

हाथी का दाँत या तीक्ष्ण लकड़ी। नोक का आकार भी कार्य के अनुसार भिन्न-भिन्न होता था। कहीं लक्ष्य को भेदने के लिए, तो कहीं आघात पहुँचाने के लिए।

वेदों में ऐसे बाणों का भी उल्लेख है जिनकी नोकें अनेक मुखों वाली होती थीं। इससे यह स्पष्ट होता है कि उस समय युद्धकला में अत्यन्त सूक्ष्म और विकसित तकनीक का प्रयोग होता था।

कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में भी यह निर्देश दिया है कि लक्ष्य को भेदने के लिए लोहे की नोक वाले बाण सबसे उपयुक्त हैं। अस्थि (हड्डी) से बने बाण की नोक भेदन के कार्य में सहायक होती थी और आघात या चोट पहुँचाने के लिए काष्ठ की नोक का प्रयोग किया जाता था। रामायण, महाभारत और अन्य संस्कृत साहित्य में भी बाणों की असंख्य किस्मों का उल्लेख मिलता है, जो उस युग की उन्नत अस्त्र-शस्त्र परंपर का परिचायक है।

महर्षि वशिष्ठ द्वारा रचित धनुर्वेद में बाणों की नोकों (बाणमुखों) के दस प्रकार बताए गए हैं। प्रत्येक बाणमुख का अपना विशेष आकार और प्रयोग था—

(1) **आरामुख** - सामान्य रूप से लक्ष्य को भेदने के लिए प्रयुक्त साधारण नोक।

(2) **क्षुरप्र** - अत्यन्त तीक्ष्ण, उस्तरे जैसी धार वाली नोक, जिससे शत्रु का अंग आसानी से कट जाता था।

(3) **गोपुच्छ** - इसका आकार गो (गाय) की पूँछ जैसा होता था। यह नोक अधिकतर शत्रु को घायल करने के लिए प्रयोग में लाई जाती थी।

(4) **अर्धचन्द्र** - अर्धचन्द्राकार नोक, जो विशेष रूप से काटने या अंगभंग के लिए प्रयुक्त होती थी।

(5) **सूचीमुख** - सुई जैसी नोक, जो गहरे भेदन के लिए प्रयुक्त होती थी।

(6) **भल्ल** - त्रिकोणीय या चौड़ी नोक, जो प्रहार करने पर बड़ा घाव करती थी।

(7) **वत्सदन्त** - बछड़े के दाँत के समान नोक, तीक्ष्ण और खंडनकारी।

(8) **द्विभल्ल** - दो धारों वाला बाणमुख, जिससे प्रहार और भी घातक होता था।

(9) **कार्णिक** - इसमें नोक कान जैसी आकृति की होती थी, विशेषकर विच्छेदन कार्य हेतु।

(10) **काकतुण्ड** - कौवे की चोंच के समान तीक्ष्ण नोक, अत्यन्त खतरनाक और लक्ष्य को बेधने वाली।

इन बाणों का उपयोग परिस्थिति और आवश्यकता के अनुसार किया जाता

था। अथर्ववेद से यह संकेत मिलता है कि वैदिक काल में विषैले बाणों का भी प्रयोग होता था। शत्रु पर आघात को और अधिक मारक बनाने के लिए बाणों को विष में डुबोकर चलाया जाता था।

बाणों की गति को तीव्र और संतुलित बनाने के लिए उनके पीछे पंखों का बंधन किया जाता था, जिससे वायु का प्रतिरोध कम हो और बाण सीधे अपने लक्ष्य की ओर जा सके।

धनुर्वेद में केवल बाण और धनुष ही नहीं, बल्कि अनेक प्रकार के अन्य शस्त्रों का भी उल्लेख मिलता है—

परशु – यह चौड़ी धार वाली तीक्ष्ण कुल्हाड़ी थी, जिसका आकार फरसे जैसा होता था। महाभाष्य में कहा गया है— 'परान् शृणातीति परशुः' अर्थात् जो शत्रुओं को काट डालता है वही परशु है।

स्वधिति – छुरे के समान एक शस्त्र। ऋग्वेद में इसकी तीव्र धार की चर्चा आती है।

असी (तलवार) – लोहे से बनी हुई तलवार। चाणक्य ने तलवार के तीन भेद बताए हैं—

1. **निस्त्रिंश** – आगे का भाग थोड़ा टेढ़ा।
2. **असियष्टि** – आकार में पतली और लंबी।
3. **मण्डलाग्र** – जिसका अग्रभाग गोलाकार होता था।

कृपाण – छोटा लेकिन तीव्र और नजदीकी युद्ध में उपयोगी शस्त्र।

वाशी – ऋग्वेद में वर्णित, जो परशु जैसा ही शस्त्र था।

अथर्ववेद में 'क्षुर' शब्द का प्रयोग 'वज्र' के अर्थ में हुआ है, जो शस्त्रों की प्रचंड शक्ति को दर्शाता है।

युद्ध में केवल आक्रमणकारी अस्त्र ही नहीं, बल्कि रक्षात्मक उपकरण भी उतने ही महत्वपूर्ण थे। धनुर्वेद और अर्थशास्त्र में कवचों का उल्लेख मिलता है। चाणक्य ने छः प्रकार के कवच बताए हैं—

1. **लोहजाल** – सिर से पैर तक ढकने वाला कवच।
2. **लोहजालिका** – सिर को छोड़कर शेष शरीर को ढकने वाला कवच।
3. **लोहपट्ट** – बाहों को छोड़कर शेष अंगों को ढकने वाला।
4. **लोह कवच** – केवल पीठ और वक्षस्थल को ढकने वाला।
5. **सूत्रक कंकण** – सूत से निर्मित कवच।
6. **मिश्रित कवच** – मछली, गैंडा, नीलगाय, हाथी और बैल के चमड़े, नाखून और सींग से निर्मित कवच।

निरुक्त में भी कहा गया है— 'हस्तघ्न हस्ते हन्यत इति' अर्थात् कवच का उद्देश्य हाथ या शरीर पर प्रहार को रोकना है।

वैदिक साहित्य और बाद के ग्रंथों में 'प्रक्षेपास्त्र' का भी वर्णन है। ये ऐसे अस्त्र थे जिन्हें दूर से छोड़ा जाता था और वे शत्रु पर प्रहार करते थे। अथर्ववेद और बाद के टीकाकारों में इनकी तुलना कभी उछलते हुए जीवों से की गई है। सायण ने इसे 'खरगोश सिंह को निगल जाता है' के रूप में रूपकात्मक अर्थ में प्रस्तुत किया, किन्तु आधुनिक दृष्टि से देखा जाए तो यह संकेत तोप, तोपगोले या टैंक-भेदी अस्त्रों की ओर जाता है।

गांधर्ववेद

गान्धर्ववेद सामवेद का उपवेद है और इसे शास्त्रीय संगीत का मूल माना जाता है। इसमें गीत, वाद्य और नृत्य—इन तीनों कलाओं का विवेचन मिलता है। आचार्य दण्डी ने 64 कलाओं का उल्लेख किया है जिनमें गीत और नृत्य जैसी कलाएँ विशेष रूप से आती हैं। वेदों में भी संगीत की महत्ता स्पष्ट रूप से उल्लिखित है। ऋग्वैदिक ऋचाओं को सामस्वरों में गाकर ही सामवेद की रचना हुई और उसी से संगीत का स्वरूप निकला। सामवेद में परमेश्वर की स्तुति के लिए गान को ज्ञानाग्नि प्रज्वलित करने वाला बताया गया है तथा सामवेद में ईश्वर को प्रिय मित्र की तरह स्तुति करने का निर्देश दिया गया है।

गान्धर्ववेद का निर्वचन विद्वानों ने 'गा: धारयति, गिरं संगीतं धारयति, गां वाचं धरतीति वा गन्धर्व:, गन्धर्व: एव गान्धर्व:। गीर्वणो देवो भवति गीर्भि: (स्तुतिभि:) एनं वनयन्ति, वाग् वाचो ह गिर:, मा त्वा सोमस्य गल्दया सदा याचन्नहं गिरा (संगीतेन) तस्य वेद: गान्धर्ववेद:।' से किया है, अर्थात् जो वाणी और संगीत को धारण करे वही गन्धर्व है और उसी से गान्धर्ववेद बना। जिस प्रकार कल्पशास्त्र में श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र और शुल्बसूत्र आते हैं, उसी प्रकार गान्धर्ववेद में गीतविद्या, वाद्यविद्या और नृत्यविद्या सम्मिलित हैं। भरतमुनि ने भी नाट्यशास्त्र की उत्पत्ति सामवेद से मानी है।

गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने स्वयं कहा है—**वेदानां सामवेदोऽस्मि।** अर्थात् वेदों में मैं सामवेद हूँ। इस प्रकार सामवेद की महिमा और उसके उपवेद गान्धर्ववेद का महत्व स्वत: प्रकट होता है।

सामवेद को वेदों का प्राण कहा गया है और उसका उपवेद गान्धर्ववेद संगीतशास्त्र का आधार है। श्रीकृष्ण ने गीता में सामवेद को अपनी महिमा का प्रतीक बताकर सामगान की विशेष महत्ता प्रकट की है। सामगान केवल धार्मिक अनुष्ठानों का अंग नहीं रहा, बल्कि यह आत्मा को शुद्ध करने वाला, ईश्वर की ओर ले जाने वाला और समाज को आनंद एवं सामंजस्य प्रदान करने वाला माध्यम माना गया।

नाट्यशास्त्र में गान्धर्ववेद का और भी विस्तृत विवेचन मिलता है। भरतमुनि

के अनुसार ब्रह्मा ने सामवेद से ही संगीत का अंश लेकर नाट्यशास्त्र की रचना की थी।

आचार्य दण्डी ने अपने काव्यशास्त्र में 64 कलाओं का उल्लेख किया है, जिनमें गीत, वाद्य और नृत्य विशेष स्थान रखते हैं। शुक्राचार्य ने भी 64 कलाओं का वर्णन करते हुए गान्धर्ववेद से संबंधित कलाओं की चर्चा की है। इसका आशय यह है कि प्राचीन भारतीय संस्कृति में संगीत और उससे संबंधित कलाओं को जीवन का आवश्यक अंग माना गया।

चारों वेदों का परम लक्ष्य ब्रह्मप्राप्ति है और उसी क्रम में सामवेद तथा उसका उपवेद गान्धर्ववेद भी साधना और परमात्मा की प्राप्ति का साधन है। शुक्रनीति में गान्धर्ववेद को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि स्वर, वाद्य, कण्ठ और ताल से जो गानविज्ञान उत्पन्न होता है वही गान्धर्ववेद है—

स्वैरुदात्तादिधर्मैस्तन्त्रीकण्ठोत्थितैः सदा।
सतालैर्गानविज्ञानं गान्धर्वो वेद एव सः।।

गान्धर्ववेद में स्वर, राग, रागिनी, ताल, वादित्र, ग्राम, मूर्च्छना, तान और गीत आदि के लक्षणों का उल्लेख मिलता है। इनको सीखने की विधि और उनके प्रयोजन का भी विस्तृत निरूपण किया गया है।

गान्धर्ववेद को शास्त्रीय संगीत का मूल शास्त्र माना गया है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने इसे विलुप्त वेदविद्या के पुनरुद्धार का माध्यम बताकर स्पष्ट किया कि इसमें स्वर, राग, रागिनी, समय, ताल, ग्राम, तान, वादित्र, नृत्य और गीत का यथावत् अध्ययन होना चाहिए। परन्तु उन्होंने चेतावनी भी दी कि इसका प्रयोग केवल आध्यात्मिक साधना और वेदसम्मत उद्देश्यों के लिए किया जाए, न कि विषयासक्ति, भडुवापन या व्यर्थ आलाप के लिए।

सामवेद में संगीत के माध्यम से स्वर और ईश्वर की उपासना का अत्यन्त सूक्ष्म विवेचन मिलता है–

सोमाः पवन्त इन्दवोऽस्मभ्य गातुवित्तमाः।
मित्राः स्वाना अरेपसः स्वाध्यः स्वर्विदः।।

सामवेद का मन्त्र कहता है कि भजन और दोषरहित स्वर से गाने वाला गायक ईश्वर के आनन्दरूप साम से प्रेरणा प्राप्त करता है। यह स्पष्ट करता है कि सामगान के द्वारा परमात्मा की प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त होता है। इसीलिए विश्व में भारत को संगीत का जनक कहा गया है, क्योंकि सृष्टि के प्रारम्भ से ही सामगान का उल्लेख मिलता है। बृहद्देवता में कहा गया है कि 'जो सामों को जानता है वही तत्त्व को जानता है। इस प्रकार गान्धर्ववेद का ज्ञाता ही वास्तविक तत्ववेत्ता होता है।

नारदीय शिक्षा में अनेक महान् गायकों का उल्लेख मिलता है, जैसे अग्नि,

ब्रह्मा, सोम, विष्णु, नारद, तुम्बुरु, वसिष्ठ, विश्वावसु और कश्यप। गान्धर्ववेद के आचार्यों की परम्परा भी अत्यन्त विशाल है। सरस्वती, चित्ररथ, नारद, मतंग, शारंगदेव, सोमनाथ, भरतमुनि, तुम्बुरु, हहा, हुहू, विश्वावसु, उग्रसेन, धनञ्जय, पर्जन्य, ऋतसेन, स्फूर्ज, शतजित् और सूर्यवर्चा जैसे महापुरुष इस विद्या के प्रचारक और संवाहक रहे।

इसके अतिरिक्त गान्धर्ववेद के विषय में अनेक ग्रन्थों की रचना भी हुई, जैसे— नारदसंहिता, नारदीय शिक्षा, संगीतरत्नाकर, नाट्यशास्त्र, रागविबोध, दत्तिलम्, संगीतसारसंग्रह और संगीतरत्नाकरकलानिधि। इन सभी ग्रन्थों में स्वर, राग, रागिनी और गान की गहन विवेचना की गई है।

मीमांसाभाष्य में शबर स्वामी ने कहा है कि ऋक् और स्वर के मेल से ही सामवेद की सामवेदता है। यही कारण है कि सामवेद को उपासना का शास्त्र कहा गया है। संगीत के माध्यम से साम का स्वरूप प्रकट करना ही गान्धर्ववेद का अभीष्ट लक्ष्य है। मीमांसाशास्त्र के भाष्य (7.1.6) में भी सामवेद को गानशास्त्र बताया गया है और उसमें स्वरों की अनन्त शक्तियों का वणज़्न किया गया है।

महर्षि दयानन्द के अनुसार मन्त्रों के अनुकूल आचरण करने से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है और मन्त्रों का गायन स्वर के बिना सम्भव नहीं। ऋग्वेद का सिद्धान्त भी यही है कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड स्वरयुक्त है। ऋग्वेद में यह सन्देश भी मिलता है कि ईश्वर के प्रत्यक्ष दर्शन के लिए स्वर ही एकमात्र साधन है।

गान्धर्ववेद केवल कला और मनोरंजन का शास्त्र नहीं है, बल्कि यह मनुष्य के शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य की रक्षा का भी साधन है। इसमें वणिज़्त स्वर और नाद शरीर के त्रिदोष – वात, पित्त और कफ को संतुलित करने की शक्ति रखते हैं। यह तथ्य स्वयं गान्धर्ववेद के ग्रन्थों में प्रतिपादित है कि जब वीणा जैसे वाद्ययंत्रों से स्वर सिद्ध हो जाते हैं, तब शरीर के भीतर वात, पित्त और कफ में कोई विषमता शेष नहीं रहती। अतः संगीत केवल आत्मानन्द देने वाला नहीं है, बल्कि वह रोगनाशक और स्वास्थ्यवर्धक भी है।

इस विषय में ताण्ड्य ब्राह्मण में भिन्न-भिन्न सामों के प्रयोग से रोग निवारण की विधियाँ बताई गई हैं। उदाहरणार्थ—

त्रैशोकं ज्योगामयाविने ब्रह्मसाम कुर्यात् (8/1/8), प्राणापानौ वै बृहद्रथन्तरे (साम) ज्योगामयाविन उभे कुर्यात् प्रक्रान्तौ वा एतस्य प्राणापानौ यस्य ज्योगामयति प्राणापानावेवास्मिन् दधाति (7/6/12)

इन मन्त्रों का तात्पर्य है कि प्राण और अपान के असन्तुलन से उत्पन्न रोगों का निवारण सामगान द्वारा सम्भव है।

गान्धर्ववेद का एक और महत्व यह है कि इसके स्वरों और नादों से मनुष्य की

आन्तरिक वासनाएँ भस्मीभूत हो जाती हैं, दैवी शक्तियाँ प्रकट होती हैं और आत्मबल में वृद्धि होती है। यही कारण है कि योगशिखोपनिषद् ने कहा है—

सदा नादानुसन्धानात् संक्षीणा वासना भवेत्।।

अर्थात् नाद का निरन्तर अनुसंधान करने से वासनाएँ क्षीण हो जाती हैं।

ऋग्वेद में यज्ञ की रक्षा के लिए पाँच जनों का उल्लेख है, जिनमें एक गान्धर्व अर्थात् संगीतज्ञ का भी स्थान है—

पञ्चजना मम होत्रं जुषध्वम्।

यास्क ने इन पंचजनों की व्याख्या करते हुए कहा है कि मनुष्य को मनुष्य, देव और गन्धर्व (संगीतज्ञ) बनने के लिए परमात्मा की कृपा आवश्यक है।

यजुर्वेद में भी गान के महत्व का बार-बार उल्लेख हुआ है। वहाँ रथन्तर सामगान, बृहत्सामगान और वैरूप सामगान का वर्णन मिलता है (यजुर्वेद 10.10-12)। आगे यजुर्वेद (13.54-56) में भी रथन्तर, बृहत् और वैरूप सामों का वर्णन है। वैरज साम का उल्लेख यजुर्वेद 10.13, 13.57 और 15.13 में हुआ है। यह प्रमाणित करता है कि यजुर्वेद में सामगान की परम्परा गहरी और निरन्तर प्रवाहित रही है।

अथर्ववेद में संगीत को अविनाशी और अमर कहा गया है—

देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति।

अर्थात् देव के काव्य (साम) को देखो, वह न कभी नष्ट होता है, न जीर्ण। इस प्रकार गान्धर्ववेद का प्रयोग केवल परमेश्वर की उपासना और दिव्य प्रयोजनों के लिए होना चाहिए।

वेदों में गायत्री छन्द को विशेष स्थान दिया गया है। इसी प्रकार त्रिष्टुप् छन्द का उल्लेख इस रूप में किया गया है कि वह स्वतंत्र रूप से आनन्द देने वाला है, जबकि जगती छन्द सभी को आनन्द का प्रकाश देने वाला है।

इस प्रकार गान्धर्ववेद केवल संगीतशास्त्र न होकर आयुर्वेद, योग, वेदोपासना और छन्दशास्त्र से भी गहराई से जुड़ा हुआ है। यह मनुष्य को स्वास्थ्य, आत्मबल, आनन्द और परमात्मा की अनुभूति सभी कुछ प्रदान करने वाला वेदांग है।

सामवेद के उपवेद रूप में गान्धर्ववेद का उल्लेख प्राचीन भारतीय साहित्य में स्थान-स्थान पर मिलता है। यह संगीतशास्त्र है, जिसमें स्वर, राग-रागिनी, ताल, गीत, वाद्य और नृत्य आदि का विस्तृत विवेचन किया गया है। मूल रूप से गान्धर्ववेद अपने स्वतंत्र रूप में उपलब्ध नहीं है, अपितु इसके प्रकीर्ण उल्लेख विभिन्न ग्रंथों में पाए जाते हैं।

संगीत-दर्पण, नारदसंहिता, नाट्यशास्त्र तथा सामवेद में गान्धर्ववेद के अनेक सूत्र निहित हैं। वात्स्यायन के कामसूत्र में 24 कलाओं का वर्णन है जिनमें नृत्य, वाद्य

और गीत सम्मिलित हैं। बौद्ध ग्रंथ ललितविस्तर में 86 कलाओं का विवरण है, जिसमें 36वें क्रम पर वीणा, 37वें पर वाद्यनृत्य तथा 38वें पर गीत-पठितम् का उल्लेख मिलता है।

नारदसंहिता में नाद के महत्व पर बल दिया गया है—

न नादेन विना गीतं न नादेन विना स्वरः।

न नादेन विना ग्रामस्तस्मान्नादात्मकं जगत्।।

अर्थात् नाद के बिना न गीत है, न स्वर है और न ही ग्राम है; अतः सम्पूर्ण जगत् नादात्मक है।

छांदोग्य उपनिषद् में कहा गया है कि जैसे वाक्य में छन्द, छन्द में काव्य, काव्य में गीत और गीत में तान प्रशंसनीय हैं, वैसे ही समस्त वाङ्मय में वेद, वेदों में सामवेद और सभी सामों में गान श्रेष्ठ है।

ऋग्वेद में सामगान की महिमा का वर्णन है। वहाँ सामगान को पक्षियों के गान के समान मधुर और ब्रह्मपुत्र की स्तुति के समान पवित्र बताया गया है।

उद्गातेव शकुने साम गायसि ब्रह्मपुत्र इव सनेषु शंससि।- हे उद्गातः! तुम पखेरू के समान सामगान गाते हो, ब्रह्मपुत्र के समान सोमयागादि में विद्यमान प्रातःकालादि सवनों में शंसन करते हो, स्तुति करते हो।

सामवेद में सप्तस्वरों का उल्लेख है—स, ऋ, ग, म, प, ध, नि। इन सप्तस्वरों के माध्यम से ऋषियों ने सोमस्वरूप परमात्मा की स्तुति की है। सामवेद में 'वाण' नामक वाद्य का भी उल्लेख है जिसे मरुतों द्वारा बजाया जाता था।

यजुर्वेद में रथन्तर सामगान, बृहत्सामगान और वैरूप सामगान का उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार अथर्ववेद में गान के दिव्य गुणों का वर्णन है—'देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति।' यहाँ गान को अमर और अविनाशी बताया गया है।

गान्धर्ववेद के अंतर्गत स्वर, राग, ताल, वाद्य और गीत की संरचना के साथ-साथ उनके आध्यात्मिक उपयोग का भी वर्णन है। माना गया है कि गान द्वारा शरीर के दोष—वात, पित्त और कफ का संतुलन होता है। ताण्ड्य ब्राह्मण में विभिन्न रोगों की निवृत्ति के लिए सामों के प्रयोग का उल्लेख मिलता है। योगशिखोपनिषद् में कहा गया है कि नाद के निरंतर अनुसंधान से वासनाएँ क्षीण होती हैं और आत्मबल की वृद्धि होती है।

भरत और दत्तिल के अनुसार गान्धर्ववेद वेदमूलक है तथा इसका प्रवचनकर्ता स्वयं ब्रह्म है। यही कारण है कि यह शास्त्र केवल कला का साधन नहीं है, बल्कि इसे परमात्मा की स्तुति और यज्ञ की महत्ता से भी जोड़ा गया है।

सामवेद में कहा गया है-

आ नः सुतास इन्दवः पुनोना धावता रयिम्। दृष्टिधावोरीत्यापः स्वर्विदः।।

उसका भाव यह है कि (सुतासः) वे गन्धर्व या उद्गाता, जिनके स्वर संगीत से अभिषुत (पवित्र) हैं। (इन्दवः) जो परमात्मा के आनन्द से आप्लावित हैं। (पुनानाः) जो स्वयं पावन और शुद्ध हैं। (स्वर्विदः) जो संगीतज्ञ हैं, जो स्वरों के रहस्य और सामगान की विद्या जानते हैं। ऐसे गान्धर्व अपने सामगान के प्रभाव से द्युलोक को मेघों से बरसने के लिए प्रेरित करते हैं (वृष्टिधावः) और जलों को पृथ्वी पर गिराते हैं, (रीत्यापः)। उनका यह दिव्य गान न केवल प्रकृति को प्रभावित करता है बल्कि हमारे लिए धन-सम्पत्ति और ऐश्वर्य की प्राप्ति का साधन भी बनता है।

सामवेद में स्वरों का विशेष विवेचन मिलता है। इन्हीं स्वरों के आधार पर गांधर्व उपवेद की रचना हुई। महाभाष्य में सामवेद की एक सहर्‍ शाखाओं का उल्लेख मिलता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि सामवेद की शाखाएँ सामगान के अनेकों प्रकारों के कारण बनी होंगी। सहस्रवर्त्मा सामवेदः का अभिप्राय भी यही है कि सामवेद की एक सहस्र शाखाएँ थीं। सम्भव है कि यह विभाजन साम (गीति) के हजारों प्रकार के गान के आधार पर हुआ हो।

मीमांसाभाष्यकार शबरस्वामी ने भी लिखा है—

सामवेदे सहस्रं गीतेरुपायाः।

अर्थात सामवेद में गान के हजार उपाय निहित हैं। सामवेद का आन्तरिक प्रमाण भी यही कहता है— गाने सहस्रवर्त्मनि।

गांधर्ववेद का मुख्य उद्देश्य सामवेद के स्वरूप और उसके मंत्रों के गान को प्रत्यक्ष रूप में दिखाना है। सामवेद गानशास्त्र है और इसका उपवेद गांधर्ववेद भी पूर्णतः स्वरशास्त्र है। गांधर्ववेद में वर्णित स्वरों में अपार शक्ति निहित है।

स्वरों के माध्यम से ही योगी परमात्मा का ध्यान भलीभाँति कर पाते हैं और उसी से योग की सिद्धि होती है। जब ओ३म् का गान किया जाता है तो उसमें स्वर और नाद ही रहते हैं। इन्हीं स्वर और नाद के माध्यम से साधक का मन और वाणी परमपिता परमेश्वर के साथ एकत्व स्थापित करती है।

अर्थवेद

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अथर्ववेद का उपवेद 'अर्थवेद' माना है। सत्यार्थप्रकाश में उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि, अर्थवेद, जिसे शिल्पविद्या कहा जाता है, वह वस्तुओं के गुणों का विज्ञान है। यह विद्या क्रियाओं के कौशल, विभिन्न पदार्थों के निर्माण और पृथ्वी से लेकर आकाश तक की सम्पूर्ण विद्याओं का यथार्थ ज्ञान प्रदान करती है। यही वह विद्या है जो ऐश्वर्य और समृद्धि को बढ़ाने वाली है, इसलिए इसे 'अर्थवेद' कहा गया है।

कुछ विद्वानों ने अर्थवेद को ऋग्वेद का उपवेद भी माना है, परन्तु महर्षि दयानन्द ने इसकी स्पष्टता अथर्ववेद से सम्बद्ध बताई है।

अर्थवेद का विषय अत्यन्त व्यापक है। इसे अर्थनीति, शिल्पशास्त्र और अर्थशास्त्र आदि नामों से भी जाना जाता है। इसमें समाज और राज्य की समृद्धि, धनोपार्जन और आजीविका से सम्बन्धित विविध विषयों का उल्लेख मिलता है।

अर्थवेद के अन्तर्गत उपलब्ध प्रमुख ग्रन्थ इस प्रकार बताए जाते हैं–

अर्थोपवेद – जिसमें लगभग 1 लाख श्लोक हैं।

अर्थचन्द्रोदय – इसके अन्तर्गत लगभग 20,000 श्लोक हैं।

अर्थवाद –इसमें लगभग 30,000 श्लोक सम्मिलित हैं।

सम्पत्ति शास्त्र – जिसमें लगभग 1 लाख 20,000 श्लोक हैं।

इनके अतिरिक्त ऐतिह्य ग्रन्थ के रूप में अर्थवेद से सम्बद्ध दो अन्य ग्रन्थ भी माने गए हैं– नीतिप्रभा और काश्यपेय दण्डनीति।

अर्थवेद के प्रमुख आचार्य रहे हैं – उशना, विशालाक्ष, बृहस्पति, कश्यप और पराशर आदि।

अर्थवेद की विषयवस्तु में धनोपार्जन, सम्पत्ति का संरक्षण, आजीविका के साधन, धन–विनिमय, पशुपालन, व्यापार, कृषि, शिल्पकला, राजव्यवस्था आदि सम्मिलित हैं। इस दृष्टि से भूमि, धन, विद्या, कला, कृषि और जीविका सम्बन्धी सभी साधनों का नाम 'अर्थ' है। वास्तव में अर्थ मनुष्य के आरोग्य, भोग और धर्म का मुख्य आधार रहा है, इसलिए उसकी ओर सबकी स्वाभाविक प्रवृत्ति दिखाई देती है।

अर्थवेद शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार दी जाती है–

अर्य्यते प्राप्यतेऽसौ अर्थः।

अर्थस्य वेदः ज्ञानं प्राप्यते येन स अर्थवेदः।।

अर्थात, जो प्राप्त किया जाता है, वही अर्थ है, और जिसका ज्ञान कराया जाए वह अर्थवेद कहलाता है।

इस प्रकार अर्थवेद उस शास्त्र का नाम है, जिसमें राज्य–नीति, आजीविका, वार्ता, यन्त्र, यान, धन–विनिमय, शिल्प और निर्माण से सम्बन्धित सभी चरित्र, विचार और सिद्धान्तों का विस्तारपूर्वक प्रतिपादन मिलता है।

अर्थ शब्द की व्युत्पत्ति :– अर्थ शब्द की व्युत्पत्ति ऋगतौ धातु से औणादिक क्थन् प्रत्यय के संयोग से होती है। अर्यते प्राप्यते असौ अर्थः अर्थात् जिसे मनुष्य जीवन–यापन के लिए प्राप्त करता है अथवा जिससे मानव जीवन का संचालन होता है, उसे अर्थ कहते हैं।

अर्थ की इस व्याख्या में नगर, ग्राम, पशु, कृषि, वाणिज्य, यातायात, विविध

कलाएँ, परिधान, विनिमय प्रणाली, भोजन, जल-स्त्रोत, सौंदर्य-प्रसाधन, खनिज-सम्पदा, भण्डारगृह तथा स्वर्णकार, कर्मार, बुनकर, रथकार, तक्षक आदि विविध उद्योग सम्मिलित हैं। इन साधनों के द्वारा जब पाप और अधर्म जैसे अमानवीय कर्मों को त्यागकर धर्म, सुख, यश और शान्ति की प्राप्ति होती है, तब यही अर्थवेद का उपवेदत्व सिद्ध होता है।

पाणिनि के अनुसार अर्थ शब्द की उत्पत्ति ऋगतो धातु से 'उषिकुशिगापितभ्य: क्थन्' (औणादिक सूत्र) द्वारा 'क्थन्' प्रत्यय से दिखाई गई है। इसका निर्वचन है-

अर्य्यते, ज्ञायते, गम्यते असौ अर्थ:।

अर्थात् जिसे जाना जाये, समझा जाये, प्राप्त किया जाये, या जिसकी ओर गमन किया जाये, वही अर्थ कहलाता है।

अर्थ उपयाच्त्रायाम् से अकर्तरि च. सूत्र के अनुसार जब यञ् प्रत्यय होता है, तब भी अर्थ शब्द की सिद्धि होती है। इसका निर्वचन होगा -

अर्थ्यते, याच्यते इति अर्थ:।

अर्थात् जिसे माँगा जाये, जिसकी याचना की जाये, वही अर्थ है।

महर्षि यास्क ने अर्थ शब्द का निर्वचन इस प्रकार किया है -

अर्थोऽर्त्ते: अरणस्थो वा।

इसके आधार पर दो अर्थ निकलते हैं - (1) अर्य्यते, ज्ञायते, प्राप्यते इति अर्थ: - जो प्राप्त किया जाये, जिसकी ओर गमन हो, वही अर्थ है।

(2) अरणे स्वामिन: गमने सति अत्रैव तिष्ठति इति अर्थ: अर्थात स्वामी की मृत्यु होने पर भी जो यहीं स्थिर रहता है, वही अर्थ है।

अर्थवेद के अन्तर्गत चौंसठ कलाओं को माना गया है-

चौंसठ कलाएँ

भारतीय संस्कृति में कला और शिल्प को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। अर्थवेद के अन्तर्गत कुल चौंसठ कलाओं का उल्लेख मिलता है। ये कलाएँ केवल मनोरंजन या विलास के लिए नहीं थीं, बल्कि शिक्षा, व्यावहारिक जीवन, विज्ञान और युद्धकौशल तक का समावेश इनमें किया गया था।

नृत्य :- नृत्य का तात्पर्य केवल अंगों की गति नहीं, बल्कि भावों और रसों की अभिव्यक्ति से है। इसमें विभाव, अनुभाव, करण, अंगहार आदि के माध्यम से भावों को प्रकट किया जाता है। नृत्य के दो प्रकार बताए गए हैं। नाट्य नृत्य में पृथ्वी अथवा स्वर्ग के जीवों की कृतियों का अनुकरण किया जाता है। अनाट्य नृत्य में अनुकरण न हो, वह इस प्रकार का नृत्य कहलाता है। भारत में नृत्यकला प्राचीन काल से ही उच्च स्तर पर रही है। शिव का ताण्डव इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। दक्षिण भारत का भरतनाट्यम तथा उत्तर भारत का कत्थक इसी की परंपरा को आगे बढ़ाते हैं। महाभारतकाल में भी

यह कला अत्यावश्यक शिक्षा का भाग थी। अर्जुन ने अज्ञातवास में विराटनगर में कन्याओं को नृत्य और गान का शिक्षण दिया था।

वाद्य-निर्माण कला :- प्राचीन वाद्यों को चार भागों में बाँटा गया है—

तत वाद्य - तारों से बजने वाले, जैसे वीणा, सरोद, तम्बूरा, सारंगी आदि।

सुषिर वाद्य - खोखले या सुराख वाले जिनमें वायु से ध्वनि निकलती है, जैसे बांसुरी, शहनाई, शंख, हारमोनियम आदि।

अवनद्ध वाद्य - जिनमें चमड़ा मढ़ा होता है, जैसे मृदंग, तबला, ढोल, नगाड़ा, खंजरी आदि।

घन वाद्य - जो टकराने से बजते हैं, जैसे झाँझ, मंजीरा आदि।

कला :- कलाओं के अन्तर्गत स्त्री-पुरुषों का श्रृंगार और पहनावा, विभिन्न रूपों का आविर्भाव करना, पुष्पों की मालाएँ गूँथना, खेल-कूद (जैसे पाशा), बिस्तर और शय्या सजाना आदि भी सम्मिलित हैं। इनका उल्लेख गान्धर्व वेद में भी मिलता है।

चिकित्सा और आयुर्विज्ञान से सम्बन्धित कलाएँ :- औषधियों से आसव-अरिष्ट बनाना, शल्यचिकित्सा करना, मसालों से रुचिकर भोजन बनाना, उद्यान लगाना, खनन और धातु शुद्धिकरण करना, गन्ने से गुड़, राब, खांड और चीनी बनाना—ये सब कला का अंग माने गए हैं। धातुओं को मिलाना, मिश्रधातु को पृथक करना, नमक निर्माण, आदि प्रक्रियाएँ भी आयुर्वेद और रसायन शास्त्र से सम्बद्ध कलाओं में गिनी गई हैं।

युद्धकला :- मल्ल-कुश्ती, लाठी, तलवार और भाले का प्रयोग, शत्रु पर आक्रमण ('निपीडन') और उससे बचाव ('प्रतिक्रिया'), निशाने पर अस्त्र फेंकना, व्यूह-रचना करना, हाथी-घोड़े-ऊँट जैसे वाहनों द्वारा युद्ध करना—ये कलाएँ धनुर्वेद से सम्बन्धित हैं।

शिल्प और वास्तुकला :- मिट्टी, लकड़ी, पत्थर और धातुओं से बर्तन बनाना, भवन, तालाब, बावड़ी और कुएँ का निर्माण, चित्रकला, वस्त्र रंगना, समय-नापने के यंत्र बनाना, जल, वायु और अग्नि से भाप निकालना, नौका और रथ निर्माण, रस्सी और वस्त्र निर्माण, रत्नों और धातुओं की पहचान, कृत्रिम आभूषण और रत्न बनाना—ये सभी शिल्पकलाओं के अन्तर्गत आते हैं।

चमड़े से वस्त्र और सामान बनाना, दुग्ध से दही, मक्खन और घृत तैयार करना, जल में तैरना, हल चलाना, कृषिकर्म, टोकरी बनाना, काँच से चूड़ी और बर्तन तैयार करना, बालकों का पालन-पोषण, सुन्दर लेखन, ताम्बूल (पान) रक्षण आदि भी चौंसठ कलाओं में सम्मिलित हैं।

शुक्रनीतिसार में अर्थशास्त्र की परिभाषा दी गई है, जिसका अर्थवेद से गहरा

संबंध है–

श्रुतिस्मृत्यविरोधेन राजवृत्तादिशासनम्।

सुयुक्त्याऽर्थार्जनं यत्र ह्यर्थशास्त्रं तदुच्यते।। (शुक्रनीतिसार, 4.3.54)

अर्थात जहाँ वेद और स्मृति के अनुरूप राजनीति का मार्गदर्शन किया जाए तथा धर्म और युक्ति के आधार पर धनार्जन की विधियाँ बताई जाएँ, उसे ही अर्थशास्त्र कहा जाता है।

अर्थवेद में अनेक क्षेत्रों का उल्लेख है, जैसे—

कृषि :- जल, धान्य, कृषक और पशुपालन।

शिल्प :- तक्षक, रथकार, स्वर्णकार, मणिकार, लोहकार, कुम्भकार, तन्तुवाय, चमज़्कार, गृह और पुल-निर्माण।

विज्ञान :- विमान, जलयान तथा विद्युत-यंत्र आदि।

इसके अतिरिक्त नृत्य, संगीत, वाद्य, सजावट और लघु गृह-उद्योग भी अथोपज़जज़्न के साधन होने से अर्थवेद में सम्मिलित हैं।

स्वमन्व्यामन्तव्यप्रकाश: में महर्षि दयानन्द का मत है कि अर्थ वही है जो धर्म से प्राप्त किया जाए और जो अधर्म से प्राप्त हो वह अनर्थ है।

अर्थशास्त्र अत्यंत व्यापक विषय है जिसमें राजनीति, अर्थनीति, धर्मनीति और शिल्पनीति सबका समावेश है। इसके मूल आधार तीन हैं - भूमि, पशु और मनुष्य।

भूमि से कृषि, अन्न, फल, भवन-निर्माण की सामग्री और अन्य संपदा प्राप्त होती है। पशुधन कृषि और आजीविका के लिए अत्यंत उपयोगी है। परंतु भूमि और पशुधन तभी सार्थक हैं जब उनका उपयोग करने वाला मनुष्य उपलब्ध हो।

वेदों में अर्थोपार्जन के अनेक उपाय बताए गए हैं, जैसे कृषि, उद्योग, धान्य-उत्पादन, पशुपालन और शिल्प-विज्ञान। शिल्प में आभूषण निर्माण, नृत्य-संगीत, वाद्यकला, रथ-निर्माण, स्वर्णकारी, लोहकारी, कुम्भकारी, चर्मकारी आदि शामिल हैं।

अर्थवेद का विषय अत्यंत विस्तृत है जिसमें पशु, वन-संरक्षण, कृषि, व्यापार, उद्योग, राजनीति, राजव्यवस्था, युद्धनीति, दण्डनीति और कलाकौशल तक सम्मिलित हैं।

वाणिज्य और व्यापार :- वाणिज्य और व्यापार का वर्णन व्याकरणशास्त्र में मिलता है, जिसमें क्रय-विक्रय, शुल्क, अपण्य, देवऋण, विनिमय आदि का उल्लेख है। यहाँ मुख्य रूप से पण्यद्रव्य (वाणिज्य वस्तुएँ) पर दृष्टि डाली गई है।

पण्यवस्तुएँ-खाद्यान्न :-ति, यव, यवक, ब्रीहि, शालि, माष, उमा, अणु, भङ्गा, उदश्वित्, क्षीर दधि[8], हैयंगवीन, अपूप, कुल्माष, गुड, जौ, मांस, सर्षप, लवण, शष्कुली, मोदक, सक्तु, इक्षु, मूङ्ग, गोधूम, नौवार, मद्य, मधु, शृङ्गवेरम् ।

शाक-फल :- पिण्डफला (कड़वी लौकी), विदारी (कद्दू), त्रिफला, अलाबू, कर्कन्धू, बेल, आंवला, कुवल, बेर, जामुन, हरीतकी, कोशातकी, नखरञ्जनी, शष्कण्डी, दाडी, दोडी, दीडी, श्वेतपाकी, अर्जुनपाकी, काला, द्राक्षा, ध्वांक्षा, गर्गरिका, कण्टकारिका, शेफालिका।

सुगंध-द्रव्य :- गुग्गुल, उशीर, हरिद्रा, नलद, चन्दन आदि।

वस्त्र :- शाटक, कंबल, कौशेय, कार्पास, ऊन आदि।

आभूषण :- कुण्डल, कटक, कणिज़्का, ललाटिका, अङ्गद, किरीट आदि।

धातु एवं काष्ठ से निर्मित वस्तुएँ :- मणि, स्वर्ण, रजत, लौह, कांसा, स्फटिक, लाख आदि।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर उपलब्ध विभिन्न स्रोतों से उपवेदों का ऐतिहासिक एवं तात्विक विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

❑❑❑